Vol. 7
No. 13
DP-14

वैदिक वाग् ज्योतिः

सम्पादक - दिनेशचन्द्र शास्त्री

UGC Care List No. 287
(Arts & Humanities)

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

DP-14

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed
Research Journal on Vedic Studies
(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./ वर्ष-7 July-December 2019 No./ अंक 13

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेदविभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC Care Listed Half Yearly Journal)
July-December 2019

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Satyapal Singh, Chancellor, GKV, Haridwar
Prof. Roop Kishor Shastri, Vice-Chancellor, GKV, Haridwar

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Head, Dept. of Veda, GKV,
Haridwar-249 404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541

Advisory Board

Prof. Nicholas Kazanas, Athens (Greece)
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Dr. Vinod Chandra Vidyalankar, Jwalapur
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, "President Awardee" Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Suneel Joshi, Haridwar
Prof. Ishwar Bharadwaj, Haridwar
Prof. Rakesh Sharma, Haridwar
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Rajendra Vidyalankar, Kurukshetra
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Kamalesh Chaukashi, Ahamedabad
Prof. Renubala, Amritsar
Dr. Nagendra K. Neeraj, Haridwar
Prof. Sharada Sharma, Delhi
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof. R.C. Dubey, Haridwar
Prof P.C. Joshi, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar
Dr. Aparna Dhir, New Delhi/USA
Dr. Anju Kumari
Dr. R.G. Murli Krishna, Delhi
Dr. Udham Singh

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna, V.C., Patanjali University
Prof. Devi Prasad Tripathi, V.C., U.S. University

Departmental Advisory Board

Prof. Manudev Bandhu

Reviewers

Acharya Balveer, Rohtak
Dr. S.P. Singh, Delhi

Finance Advisor

Sh. R.K. Mishra, F.O.
Sh. Naveen Kumar

Business Manager

Department of Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 200.00 Annual, US $ 20,
Single Copy: Rs. 100.00
Rs. 1000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar,
G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Dinesh Bhatt
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007
Mob.: 09990279798, 09818279798

UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287
ISSN : 2277-4351
RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./वर्ष-7 July–December 2019 No./अंक 13

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

उ॒प॒ह्व॒रे गि॑री॒णाꣳ स॒ङ्ग॒मे च॑ न॒दीना॑म्।
धि॒या विप्रो॑ अजायत।। यजु. 26/15

पदार्थः—(उपह्वरे) निकटे (गिरीणाम्) शैलानाम् (सङ्गमे) मेलने (च) (नदीनाम्) (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा (विप्रः) मेधावी। विप्र इति मेधाविनाम। निघं० 3।15 (अजायत) जायते।

अन्वयः—यो मनुष्यो गिरीणामुपह्वरे नदीनां च सङ्गमे योगेनेश्वरं विचारेण विद्यां चोपासीत स धिया विप्रो अजायत।

भावार्थ—ये विद्वांसः पठित्वैकान्ते विचारयन्ति ते योगिन इव प्राज्ञा भवन्ति।

पदार्थ—जो मनुष्य (गिरीणाम्) पर्वतों के (उपह्वरे) निकट (च) और (नदीनाम्) नदियों के (सङ्गमे) मेल में योगाभ्यास से ईश्वर की और विचार से विद्या की उपासना करे वह (धिया) उत्तम बुद्धि का कर्म से युक्त (विप्रः) विचारशील बुद्धिमान् (अजायत) होता है।

भावार्थः—जो विद्वान् लोग पढ़ के एकान्त में विचार करते हैं वे योगियों के तुल्य उत्तम बुद्धिमान् होते हैं।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्नितरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्नितरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

सम्पादकीय-मीमांसा-सम्बन्धी विप्रतिपत्तियां और उनका समाधान *vii*

हिन्दी संभाग

1. **वेदों में मृत्यु-उपरांत सतत जीवन एवं इस्लाम बौद्ध धर्म की मान्यताओं का विश्लेषण** 1
   –डॉ. नीलम त्रिवेदी
2. **पातंजल महाभाष्य में प्रकीर्ण विज्ञान-बीज और वर्तमान विज्ञान** 9
   –ले. डॉ. रामप्रकाश वर्णी
3. **अहिंसा की यथार्थता- किसके लिए कितनी व्यवहार्य?** 21
   –पण्डित वेदप्रकाश शास्त्री
4. **वेदों में व्यक्तित्व की संकल्पना** 50
   –डॉ. अंजू कुमारी
5. **उपनिषदों में वर्णित मोक्ष का स्वरूप** 60
   –डॉ. विजेन्द्र प्रकाश कपरूवान
6. **ऋग्वेद में आयुर्वेद की पृष्ठभूमि** 66
   –डॉ. मोनिका मिश्रा
7. **वेदार्थ में छन्दविज्ञान का महत्त्व** 71
   –डॉ. हेमन्त चतुर्वेदी
8. **वैदिक साहित्य में हठयोग विद्या** 79
   –डॉ. रमेशचन्द्र
9. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र अध्यात्म पटल-एक अध्ययन** 85
   –सन्दीप
10. **ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति तत्त्व** 89
    –डॉ. सन्दीप कुमार चौहान

11. **शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित यज्ञ का स्वरूप** 98
– डॉ. विपिन बालियान

12. **श्रीमद्भगवद्गीता प्रोक्त यज्ञ शब्द का अर्थानुशीलन** 109
–नवीन एवं अंकुर कुमार आर्य

13. **उपनिषदों में आत्मा एवं प्राण का सम्बन्ध** 114
–डॉ. मौहर सिंह मीणा, डॉ. पवन कुमार

14. **योग दर्शन में कैवल्य का स्वरूप** 119
–डॉ. ऊधम सिंह

15. **वैदिक भूगर्भ-विज्ञान** 125
–डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री

16. **वैदिक युगीन वस्त्रालंकरण विधान का समीक्षात्मक अध्ययन** 130
–प्रो. प्रभात कुमार

संस्कृत संभाग

17. **अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी** 136
–डॉ. दे. दयानाथः

18. **वेदेषु मानवाधिकारविचारः** 140
–डॉ. दीनदयाल वेदालंकार

English Section

19. **Environmental Awareness-A Vedic Perception** 146
- Dr. K. Varalakshmi

20. **Causal Genesis & Celestal Beings** [Part-III] 155
- Acharya Siddhartha A. Bhargava &
- Prof. Dinesh Chandra Shastri

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (vii-vxi) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

सम्पादकीय

मीमांसा-सम्बन्धी विप्रतिपत्तियां और उनका समाधान

मीमांसा वह शास्त्र है जिसका प्रचार अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अति न्यून पाया जाता है, इसी कारण इस शास्त्र के विषय में लोग विविध विप्रतिपत्तियों से ग्रस्त हैं। कोई कहता है यह शास्त्र केवल कर्म को कारण कथन करता है, कोई कहता है कि यह शास्त्र ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, कोई कहता है कि इसमें पशुओं की आहुति देना लिखा है और कोई कहता है कि यज्ञ में पशुओं के अंग काटने का क्रम इस शास्त्र में वर्णित है, जैसा कि **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (ब्र.सू. 1/1/1) में आचार्य शंकर लिखते हैं कि **यथा च हृदयाद्यवदानानामानन्तर्य्यनियमः**=जैसे पशु के हृदयादि अंगों के काटने का क्रम नियत है कि प्रथम पशु के हृदय को काटे, फिर जिह्वा को और उसके अनन्तर वक्षस्थल अर्थात् छाती को काटे, वैसे ब्रह्मजिज्ञासा में आनन्तर्यरूप क्रम नियत अपेक्षित नहीं, एवं पशुयज्ञवादी इस शास्त्र को गोमेध, अश्वमेध तथा नरमेध आदि निन्दित यज्ञों से कलंकित करते हैं।

हम यहां महामहोपाध्याय पं. आर्यमुनि जी के लिखे अनुसार इस बात को बलपूर्वक कह सकते हैं कि उक्त बातों का गन्धमात्र भी इस शास्त्र में नहीं है,यह केवल आधुनिक टीकाकारों की लीला का फल है जो इस वैदिक दर्शन पर उक्त कलंक लगाये जाते हैं। पं. आर्यमुनि के अनुसार कई एक आधुनिक टीकाकारों के भक्त यह आक्षेप किया करते हैं कि उन टीकाकारों को क्या प्रयोजन था जो अन्यथा अर्थ करते और वह टीकाकार जिनको सहस्त्रों वर्ष व्यतीत हो गए वह आधुनिक और आजकल के लेखक प्राचीन, यह अभिनवनय क्या? इसका उत्तर यह है कि अन्यथा अर्थ करने में उनका अज्ञान और कहीं-कहीं स्वार्थ भी कारण है,अज्ञान यह कि इन टीका टिप्पणियों के समय में लोग वैदिकप्रथानुकूल मूलशास्त्रों का अभ्यास नहीं करते थे किन्तु **अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः** इस औपनिषद वाक्य के अनुसार अन्धपरम्परा से एक दूसरे का अनुकरण करना श्रेय समझते थे जैसा कि पार्थसारथिमिश्र ने मीमांसादर्शन की व्याख्या शास्त्रदीपिका में जीवात्मा को सर्वव्यापक माना है और ईश्वर का खण्डन किया है, क्या कोई पूर्वमीमांसा के किसी सूत्र से जीवात्मा को सर्वव्यापक सिद्ध कर सकता है और ईश्वर का खण्डन किसी सूत्र से निकाल सकता

है, कदापि नहीं, सम्पूर्ण मीमांसा दर्शन में एक भी सूत्र ऐसा नहीं जिसमें जीवात्मा को सर्वव्यापक माना हो अथवा जिसमें ईश्वर का खण्डन किया हो, शास्त्रदीपिकाकार ने यह भाव कुमारिलभट्ट से लिया है।

यद्यपि कुमारिलभट्ट की इस अंश में हमारे हृदय में अत्यन्त श्रद्धा है कि उन्होंने वैदिकधर्म के लिए अपने शरीर को भी अर्पण कर दिया परन्तु इस भाव से उनके अवैदिक भावों को जो उन्होंने ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन और जीवात्मा को विभु माना है हम नहीं मान सकते, इस भूल का कारण मूलसूत्रों का वैदिक दृष्टि से अनभ्यास है और स्वार्थ इस प्रकार है कि जब मन चाहा कि मांसभक्षण तथा मद्यपान करें तो इन टीकाकारों ने पशुयज्ञ तथा सौत्रामणि आदि इस प्रकार के स्वार्थप्रधान यज्ञ मीमांसा में भर दिये जिनमें मांस तथा मद्य का विधान उनके लेख से स्पष्ट पाया जाता है।

और जो यह आक्षेप था कि तुम पुराने टीकाकारों को आधुनिक कैसे कहते हो,क्योंकि वह तुम से प्रथम है? इसका उत्तर यह है कि हम उनको वैदिकधर्म की अपेक्षा से आधुनिक कहते हैं अपनी अपेक्षा से नहीं और अपने आपको वैदिक तथा प्राचीन इसलिए कह सकते हैं कि सूत्रों के अर्थ हम सर्वदा वैदिकप्रथा तथा प्राचीनशैली के अनुसार सोचते हैं आधुनिक टीकाकारों की भांति कपोल कल्पित नहीं, हम दृढप्रतिज्ञापूर्वक कह सकते हैं कि हमारा चिन्तन मूल सूत्रों तथा वैदिक सम्प्रदाय से किंचित्मात्र भी विपरीत नहीं है परन्तु आधुनिक टीकाकारों का मन्तव्य तथा सूत्रार्थ सर्वथा विपरीत है, देखिए महर्षि जैमिनि महर्षि व्यास के सर्वप्रधान शिष्य थे और महर्षि व्यास का अपने दर्शन में जीवात्मा विषयक अणुवाद प्रसिद्ध है जिसको कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। इसी प्रकार महर्षि व्यास ने **जन्माद्यस्य यतः** (ब्र.सू. 1/1/2) आदि सूत्रों में ईश्वर का उपपादन स्पष्ट रूप से किया है, फिर इस मन्तव्य से विरुद्ध जैमिनि का अनीश्वरवाद तथा जीवात्माविषयक विभुवाद कैसे हो सकता है?

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आधुनिक टीकाकारों की जीव को विभु मानने और ईश्वर के खण्डन करने की भूल है इसी प्रकार पशुयज्ञविषयक भी भारी भूल है जिसको हम आगे स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

ईश्वरविषयक जैमिनि का मत

अब यहां यह विवेचन करना आवश्यक हो जाता है कि ईश्वरविषयक पूर्वमीमांसाकार का क्या मत है, हमारे विचार में जो चिन्तन या तर्क उक्त विषय में महामहोपाध्याय पं. आर्यमुनि ने प्रस्तुत किये हैं वही हमको भी जचते हैं। पं. आर्यमुनि के अनुसार महर्षि जैमिनि ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं, जैसा कि:-

1. वेदप्रतिपाद्य अर्थ को धर्म वही मान सकता जो ईश्वरवादी हो अन्य नहीं। 2. वेद को अपौरुषेय=जीवरचित न होना वही मान सकता है जो ईश्वरवादी हो। **अथातो धर्मजिज्ञासा** (मी. 1/1/1) इत्यादि सूत्रों में अभ्युदय और निःश्रेयस के हेतुभूतधर्म का निरूपण ईश्वरवादी ही कर सकता है नास्तिक नहीं। इत्यादि हेतुओं से हम यह स्पष्ट पाते हैं कि महर्षि जैमिनि ईश्वरवादी हैं और जिनका यह विचार है कि उक्त महर्षि अनीश्वरवादी हैं तथा केवल कर्म को कारण मानते हैं, यह बातें आधुनिक टीकाकारों ने प्रसिद्ध की हैं जो सर्वथा मिथ्या हैं तथा जिन लोगों का यह विचार है कि जीव तथा ईश्वर का प्रतिपादक कोई सूत्र मीमांसा में नहीं है, इसका उत्तर यह है कि वह लोग आधुनिक टीकाकारों की आंख से देखते हैं, यदि महर्षि जैमिनि की रचना को वैदिक आंख से देखें तो एक नहीं कई एक सूत्र जीव, ईश्वर के वर्णन में स्पष्ट पाए जाते हैं, जैसा कि **लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम्** (मी. 6/2/16) इस सूत्र में पूर्वपक्षी का कथन यह है कि लोक में शुभाशुभ कर्मों के फल मिलने से अधिपुरुष=ईश्वर का ज्ञान हो सकता है फिर ईश्वर ज्ञान के लिए वेद के मानने की क्या आवश्यकता है। **अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम्** (मी. 17) इस सूत्र में पूर्व सूत्रोक्त पूर्वपक्ष में यह युक्ति वर्णन की है कि लोक में जब कोई पुरुष अपराध करता है तो तैः=वे लौकिक लोग शास्त्रम्=दण्डशास्त्र का प्रमाण देकर उसके अपराध को सिद्ध कर देते हैं, एवं लौकिक शास्त्र से ही सब काम सिद्ध हो सकते हैं फिर वेद को उसके ज्ञान का साधन मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह दिया है कि **अशास्त्रोपसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्नप्रकल्पकं तस्मादर्थेन गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत्** (मी. 18)=ऐसा मानने से उपसम्प्राप्तिः=उस ईश्वर की प्राप्ति अशास्त्र=बिना ही वेद के हो जानी चाहिए पर नहीं होती, इसलिए उसकी प्राप्ति के लिए शास्त्रं स्यात्=वेद रूप शास्त्र अवश्य मानना चाहिए, न प्रकल्पकम्=केवल कपोलकल्पित शास्त्र नहीं। यदि इस शास्त्र में ईश्वर का स्वीकार न होता तो इस वेदसाधनैकगम्य ईश्वरप्राप्ति अधिकरण में अधिपुरुष=ईश्वरप्राप्ति की चर्चा क्यों की जाती? इससे स्पष्ट पाया जाता है कि मीमांसा में ईश्वर का स्वीकार भले प्रकार किया गया है और इससे पूर्व के अधिकरणों में जीव के कर्मों की व्यवस्था की गई है जिससे जीव का एकदेशी होना स्पष्ट सिद्ध होता है, हम यहां पर पूर्वोत्तरपक्ष द्वारा इस विषय को विस्तार के भय से नहीं लिखते, जो महाशय जीव के स्वरूप का वर्णन देखना चाहें वह इस अधिकरण के महामहोपाध्याय पं. आर्यमुनिकृत मीमांसार्य्यभाष्य में देख सकते हैं। इस प्रकार तात्पर्य्य यह है कि मीमांसाशास्त्र में अणु जीव और सर्वव्यापक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर का स्वीकार स्पष्ट पाया जाता है जिसको बिना विचारे आधुनिक टीकाकारों ने ईश्वर का खण्डन और जीव को विभु इस शास्त्र के टीकाटिप्पणों में लिख मारा है, जो वेद तथा मूलशास्त्र विरुद्ध होने से वैदिकों को

सर्वथा त्याज्य है।

पशुयज्ञसम्बन्धी भ्रान्तियां

इसी प्रकार पशुयज्ञ भी इस शास्त्र में सर्वथा निर्मूल है परन्तु आधुनिक टीकाकारों ने इसे भी अपनी चाल से उक्त शास्त्र में भर दिया है, सूत्रों में पशुहिंसा कहीं भी विधान नहीं की गई और जहां कहीं पशुओं का दान के उद्देश से उल्लेख आया है वहां अल्पबुद्धि पुरुष यज्ञ में पशुओं का हवन समझ लेते हैं जैसा कि **जाघनी चैकदेशत्वात्** (मी. 3/3/20) इत्यादि सूत्रों के अर्थ यह करते हैं कि पशु की पूंछ काटकर उससे हवन करे, पर सूत्रकार का यह आशय कदापि नहीं, सूत्र के सीधे अर्थ यह हैं कि **जाघनी** पशु का एकदेश है इसलिए इसका पशुयज्ञ में उत्सर्ग कर लेना अर्थात् जिन यज्ञों में पशुओं का दान दिया जाता है वहां इस वाक्य को ले जाकर यह अर्थ करना कि दानार्ह पशु की पूंछ पकड़कर यजमान दान करे। इस भाव को छिपाकर अवैदिक लोगों ने यज्ञ में पशुहनन की प्रथा चला दी है जो वैदिकभाव से सर्वथा विपरीत है।

महर्षि जैमिनि जैसे वेदानुयायी पुरुष ऐसे निषिद्ध यज्ञों का विधान कब कर सकते थे, यह लीला केवल मांसभक्षी और सुरापी लोगों की है जैसा कि **सौत्रामण्यां सुरां पिवेत्** इत्यादि वाक्य रचकर यह लिख मारा है कि **सौत्रामणी** यज्ञ में शराब पीवे और वेद भगवान् ने **यथा मांसं यथासुरा यथाक्षाधिदेवने** (अथर्व. 6/7/1) इत्यादि मन्त्रों में मद्य, मांस तथा जुआ आदि का स्पष्ट निषेध किया है और **मुग्धा देवा उत शुना यजन्त** (अथर्व. 7/1/5) इत्यादि मन्त्रों में पशु हवन का स्पष्ट खण्डन किया है, फिर कौन कह सकता है कि वैदिक धर्मप्रधान मीमांसाशास्त्र में पशुयज्ञ और मांसभक्षण की विधि है।

कतिपय लोग मांसभक्षण में उस सूक्त का प्रमाण दिया करते हैं जिसमें अतिथि से पूर्व खाने का निषेध किया है वह इसमें युक्ति यह देते हैं कि अतिथि से पूर्व मांस खाने का निषेध है, अतिथि को खिलाकर खाने में कोई दोष नहीं? इसका उत्तर यह है कि अथर्ववेद (9/3) में यह बात नहीं पायी जाती कि अतिथि से पूर्व खाने का निषेध है, क्योंकि वह प्रकरण पूर्व ही पूरा हो चुका है। प्रकरण यह है कि दूध और रसादि पदार्थ अतिथि से प्रथम न खाय।यज्ञ के विच्छेद के लिए यह एक व्रत विधान किया गया है, इस व्रत के अनन्तर यह विधान किया है कि **एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्** (अथर्व. 9/3/6/9) अधिगवक्षीर= नई ब्याई हुई गौ का दूध और मांस कदापि न खाय!, यहां यह मन्त्र मांस का अत्यन्त निषेध करता है और वह अतिथि से पूर्व खाने के निषेध रूप व्रत के पश्चात् किया

गया है, अत एव सर्वथा निषेध है विधि का कल्पक नहीं। इसका विशेष रूप से निरूपण महामहोपाध्याय पं. आर्यमुनि जी के मीमांसार्य्यभाष्य 3/4/13 में किया गया है जहां विद्वज्जन देख सकते हैं। परन्तु आधुनिक मीमांसक लोग मांसभक्षण का विधान करते हुए उसे विधिपूर्वक बताते हैं तथा इसमें प्रमाण देते हैं कि-**मधुपर्के तथा यज्ञे पित्र्यदैवत कर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्याः नान्यत्रेत्यब्रवीत् मनुः॥** यहां यह ध्यातव्य है कि मनु के नाम से लिखा गया यह श्लोक प्रक्षिप्त है। किन्तु मीमांसा में यह भाव कदापि नहीं, जैसा कि **अपि वा दानमात्रं स्यात् भक्षशब्दानभि सम्बन्धात्** (मी. 10/7/15) इत्यादि सूत्रों में यज्ञ में पशुओं का दानमात्र ही विधान किया है हिंसा नहीं।

तात्पर्य यह है कि वेदों के जिन मन्त्रों से पशुहिंसा निकाली जाती है उनमें हिंसा का विधान नहीं,जैसा कि यजुर्वेद के २४वें अध्याय में यज्ञोपयोगी पशुओं का वर्णन आया है वहां भक्षणविधायक शब्दों के न पाए जाने से दानमात्र का ही आशय है हिंसा का नहीं। और जो लोग इस अध्याय में अनेक पशुहिंसासाध्य अश्वमेध यज्ञ का निरूपण सिद्ध करते हैं वह इसलिए ठीक नहीं कि इस अध्याय में अश्वमेध का वर्णन नहीं पाया जाता किन्तु इस चराचर ब्रह्माण्ड के उपयोगी पदार्थों का वर्णन पाया जाता है, जैसा कि **पष्ठवाहो विराज उक्षाणो बृहत्या ऋषभाः ककुभेऽनड्वाहः पंक्त्यै धेनवोऽतिछन्दसे** (यजु. 24/13)अर्थ-पष्ठवाह=पीठ से बोझ उठाने वाले घोडे आदि, विराजे=राजा के लिए, उक्षाणः=पुष्ट बैल, बृहत्यै=बड़ी-बड़ी गाड़ी और रथों के लिए ऋषभा=बड़े बड़े बलिष्ठबैल, ककुभे=बड़े-बड़े कंधो वाले होने के लिए अर्थात् सांड छोडने के लिए, अनड्वाह=मामूली बैल, पंक्त्यै=पंक्ति बांधकर चलने के लिए हल आदि साधनों के लिए, धेनवः=दुग्ध देने वाली गौवें, अतिछन्दसे= वेदपारग विद्वानों के लिए उपयोगी हैं, इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है। परन्तु **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** ऐसा मानने वालों के मत में उक्त प्रकार के बैल तथा गौओं का विराट् आदि देवताओं के उद्देश से अश्वमेधयज्ञ में हनन करना विधान किया है, परन्तु यह इसलिए ठीक नहीं कि अतिछन्दस नाम के वेदपारग के लिए गौएं लिखी हैं उसके लिए गौओं के हनन का क्या प्रयोजन! और यदि यह माना जाय कि अतिछन्दस नाम वेदोक्त आचार से हीन पुरुष का है तो भी गौओं का हनन उसके लिए विधि नहीं हो सकती, इससे ज्ञात होता है कि चराचर संसार में जिस जिस वस्तु का जिस जिस काम के लिए उपयोग है उन सब वस्तुओं का संक्षेप से इस अध्याय में निरूपण है हिंसा के अभिप्राय से नहीं। और जिस अश्वमेध का टीकाकार वर्णन करते हैं उसमें असंख्यात जीवों का हवन पाया जाता है ऐसे अश्वमेध का मीमांसा सूत्रों में गंध भी नहीं। यह बात शाबरभाष्य के हिन्दी व्याख्याकार पं. गंगाप्रसाद द्वारा लिखित "मीमांसा प्रदीप" ग्रन्थ की भूमिका से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

मीमांसा दर्शन का प्रयोजन

प्रसंगप्राप्त उक्त विषयों का निरूपण करने के पश्चात् अब मीमांसादर्शन का प्रयोजन वर्णन करते हैं। **मीमांसा** शब्द का अर्थ है विचार करना, अर्थात् जिस शास्त्र में विचार किया गया हो उसका नाम **मीमांसा** है। यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि इसमें मुख्यतया वैदिक वाक्यों का विचार किया गया है जो मनुष्य के जीवन को पवित्र करने का एकमात्र उद्देश्य है, इसकी अपेक्षा सब विचार गौण हैं, इस शास्त्र के बिना वैदिक वाक्यों का विचार दुष्कर ही नहीं अपितु असम्भव है।

कौन अर्थवाद वाक्य और कौन विधिवाक्य है, इस प्रकार का बोध मीमांसाशास्त्र से ही हो सकता है अन्य किसी से नहीं, अर्थवाद वाक्यों का निरूपण भी मीमांसा 1/2/1 आदि में विस्तार से किया गया है यहां उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं, केवल विधिवाक्य और मीमांसाशास्त्र के अनुसार उनके शब्दबोध का प्रकार तथा विधियों के भेद यहां निरूपण किये जाते हैं:-जैसे **आत्मानमुपासीत**=परमात्मा की उपासना करे, **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** = वेद का अध्ययन करे, **अहरहः सन्ध्यामुपासीत** =प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन सायंप्रातः सन्ध्या करे, **अग्निहोत्रं जुहोति**=अग्निहोत्र करे, **संगच्छध्वं संवदध्वं** (ऋ. 10/191/2) तुम सब मिलकर रहो और मुख से एक ही बात कहो **मातृदेवो भव पितृदेवो भव**=सब माता पिता को देव समान समझो **यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि**=जो उत्तम कर्म हैं उनका अनुष्ठान करो अन्य का नहीं,इत्यादि विधियां हैं। ये विधियां भावी सुख को उद्देश्य रखकर पुरुष को उपासनादि कर्मों में प्रवृत्त करती हैं अर्थात् भावी सुख की कामना वाले पुरुष को नियमपूर्वक प्रतिदिन उपासनादि कर्मों का अनुष्ठान करने की प्रेरणा करती हैं।

उपासीत इसमें दो अंश हैं एक धातु दूसरा प्रत्यय और प्रत्यय में भी दो अंश हैं एक आख्यातत्त्व और दूसरा लिङ्त्व। लट्,लिट्,लुट्,लृट्,लेट्,लोट्,लङ्,लिङ्,लुङ्,लृङ् इन दश लकारों का नाम **आख्यात** है और इनमें रहने वाले धर्म का नाम **आख्यातत्त्व** है और वह दशों लकारों में वर्तमान होने से लिङ् का साधारण धर्म है, लिङ्त्वधर्म लिङ्मात्र में वर्तमान होने से असाधारण धर्म है, यह दोनों धर्म लिङ् में वर्तमान होते हुए **भावना** को कहते हैं अर्थात् इन दोनों अंशों का वाच्य **भावना** है। **भवितुर्भवनानुकूलोव्यापारविशेषो भावना**=भावी वस्तु की उत्पत्ति के जनक व्यापारविशेष का नाम भावना है। यह दो प्रकार की होती है, एक **शाब्दीभावना**, दूसरी आर्थीभावना, पुरुष की प्रवृत्ति के जनक प्रयोजक के व्यापार विशेष का नाम शाब्दीभावना है अर्थात् प्रेरक के जिस व्यापारविशेष से पुरुष की प्रवृत्ति होती है उसका नाम शाब्दीभावना है, यही लिङ्त्व अंश का वाच्य है क्योंकि लिङ् अर्थात् उपासीत के श्रवण करने से पुरुष को शीघ्र ही प्रतीत हो जाता है कि यह मुझको

उपासना में प्रवृत्त करता है अर्थात् मेरी प्रवृत्ति के जनक व्यापारविशेष वाला है और जो जिससे नियमपूर्वक प्रतीत होता है वह उसका वाच्य होता है यह नियम है, जैसा कि **गामानय**=गौ को ला, इस लौकिक वाक्य में गो शब्द का अर्थ गोत्व तथा गोत्व का आश्रय है, क्योंकि **गो** शब्द के श्रवण से गोत्व और गोत्व के आश्रय की नियमपूर्वक प्रतीति होती है, यह व्यापारविशेष लौकिकविधि वाक्यों में पुरुषनिष्ठ होने के कारण अभिप्रायविशेष नाम से और वैदिक वाक्यों में लिङादि शब्दनिष्ठ होने के कारण शाब्दीभावना नाम से कहा जाता है। अधिक क्या? प्रेरणा का नाम ही शाब्दीभावना है, यह **किं भावयेत्**=किसको बनावे, **केन भावयेत्**=किससे बनावे, **कथं भावयेत्**=कैसे बनावे, इस प्रकार साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता की अपेक्षा करती है, वक्ष्यमाण पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना इसका साध्य है और विधि का ज्ञान पुरुषप्रवृत्ति का हेतु होने साधन है, क्योंकि विधिज्ञान से ही पुरुष प्रवृत्त होता है, अर्थवादबोधितकर्म की प्रशंसा का नाम "इतिकर्त्तव्यता" है, क्योंकि जब पुरुष कर्म की प्रशंसा सुनता है तब उसके करने में शीघ्र ही प्रवृत्त हो जाता है अर्थात् शाब्दीभावना विधिज्ञान के द्वारा पुरुषप्रवृत्ति को बनाती है, इसलिए पुरुष की प्रवृत्ति उसका साध्य है, और पुरुष की प्रवृत्ति विधिज्ञान के अधीन है इसलिए विधिज्ञान साधन है, और कर्म की प्रशंसा सुनकर पुरुष कर्म करने के लिए उत्साहित होता है इसलिए कर्म की प्रशंसा **इतिकर्त्तव्यता** है।

फल की इच्छा से उत्पन्न हुई उपासनादि क्रियाविषयक पुरुष की प्रवृत्तिविशेष का नाम **आर्थीभावना** है अर्थात् पुरुष की उस प्रवृत्तिविशेष को आर्थीभावना कहते हैं जो अपने प्रयोजन के सिद्ध करने वाले उपासनादि कर्मों के करने के लिए हुई हो। यह भावना भी **किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत्** इस प्रकार साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता की अपेक्षा करती है। भावी सुख इसका साध्य है, और भावी सुख का हेतु होने से उपासनादिकर्म साधन तथा यमनियमादि उसका अंग होने से इतिकर्त्तव्यता हैं। यह दोनों भावना विधिप्रत्यय का वाच्य हैं और प्रयोजन का साधक उपासनारूप कर्म धातु का वाच्य है। धात्वर्थ और प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ प्रधान होता है और धात्वर्थ अप्रधान, इसलिए धात्वर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ करणरूप से अन्वय होता है यह इस शास्त्र की मर्यादा है, इसलिए **आत्मानमुपासीत** इस विधि का यह अर्थ हुआ कि **मोक्षकामः पुरुषः परमात्मोपासनेन मोक्षं भावयेत्**=मोक्ष कीकामना वाले पुरुष को चाहिए कि वह परमात्मा की उपासना से मोक्ष को सम्पादन करे। यहां मुक्ति प्रयोजन है उसकी इच्छा से जो परमात्मा की उपासना के लिए मोक्षकाम पुरुष की प्रवृत्ति होती है उसको **आर्थीभावना** कहते हैं। मोक्ष उसका साध्य तथा मोक्ष का हेतु होने से उपासना साधन है और यम नियमादि **इतिकर्त्तव्यता** हैं।

विधि तीन प्रकार की होती है-(1) अपूर्व, (2) नियम, तथा (3) परिसंख्या। इनमें से अपूर्वविधि वह होती है जहां तीनों कालों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो अर्थ प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त कराये। जैसा कि कहा भी है- **प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य-प्रापकोविधिरपूर्वविधिः।** जैसा कि **मोक्षकामः पुरुषः परमात्मानमुपासीत**=परमात्मा की उपासना से मोक्ष को बनावे। परमात्मा की उपासना इस विधि के बिना अन्य किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं, इसको प्राप्त कराने से इसका नाम अपूर्वविधि है, क्योंकि यह अपूर्व अर्थ का विधान करती है। **पक्षे अप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः**=पक्ष में जो अर्थ प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति कराने वाली विधि का नाम **नियमविधि** है, जैसा कि **शुचिरुपासीत**=पवित्र होकर उपासना करे, परमात्मा की उपासना पवित्र और अपवित्र दोनों पक्षों में प्राप्त है, जब मनुष्य अपवित्रता काल में परमात्मा की उपासना करता है उस पक्ष में अप्राप्त जो पवित्रता उसका विधान करने से यह **नियमविधि** कहलाती है अर्थात् यदि परमात्मा की उपासना करे तो पवित्रता के साथ ही करे अन्यथा नहीं यह नियम का स्वरूप है। **उभयोश्चयुगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्ति-परोविधिः परिसंख्याविधिः**=एक काल में दो अर्थों की प्राप्ति होने पर जो उनमें से एक की निवृत्ति को विधान करती है उसका नाम **परिसंख्याविधि** है, जैसा कि **शुचिः कुर्वीत**=पवित्र होकर करे, परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त हुए पुरुष को पवित्रता और अपवित्रता दोनों स्वतः प्राप्त हैं, इन दोनों के प्राप्त होने पर उक्त विधि अपवित्रता की निवृत्ति का ही विधान करती है पवित्रता का नहीं अर्थात् *"अपवित्र हुआ परमात्मा की उपासना न करे"*। इन तीनों विधियों में अपूर्वविधि उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकार नाम से चार प्रकार की है। **कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः**=कर्म के स्वरूपमात्र का बोधन कराने वाली विधि का नाम उत्पत्तिविधि है जैसा कि आत्मानमुपासीत=परमात्मा की उपासना करे, अग्निहोत्रं जुहोति-अग्निहोत्र करे, सन्ध्यामुपासीत=सन्ध्या करे। **अंगप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः**=अंग तथा प्रधान के सम्बन्ध को बोधन करने वाली विधि का नाम **विनियोगविधि** है अर्थात् जिन अंगों से उपासना, अग्निहोत्र, सन्ध्या आदि प्रधान कर्म हो सकते हैं उन अंगों का उक्त प्रधान कर्मों के साथ जो अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है उसको बोधन करने वाली विधि **विनियोगविधि** कहाती है। उपासना कर्म का अंग यमनियमादि अग्निहोत्र कर्म का अंग घृतादि और सन्ध्या कर्म का अंग शुचित्व तथा नीरोगतादि हैं। **प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः**=कर्म के अनुष्ठान की शीघ्रता को बोधन करने वाली विधि का नाम प्रयोगविधि है अर्थात् कर्म के अनुष्ठान काल में इसके अनन्तर अमुक कर्त्तव्य है, इसके अनन्तर अमुक कर्त्तव्य है, इस प्रकार कर्मांगों के क्रम को बोधन करके जो अनुष्ठान की शीघ्रता को बोधन करे उसका नाम प्रयोगविधि है। **कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधिकोविधिरधिकारविधिः**=

कर्मजन्यफल के भोक्ता का बोधन करने वाली विधि का नाम **अधिकारविधि** है अर्थात् कर्म से जो फल होता है जिसका दूसरा नाम प्रयोजन है उसका भोक्ता कौन है इसका निर्णय करके बोधन करने वालीविधि का नाम **अधिकारविधि** है। इसी प्रकार के वाक्यार्थ विचार का भण्डार **मीमांसाशास्त्र** है। वस्तुतः मीमांसाशास्त्र का रहस्य यह है कि यह शास्त्र वैदिक वाक्यों की मीमांसा करता है स्वतन्त्र किसी बात का निषेध किंवा विधान नहीं करता। ऐसा पं.आर्य्यमुनि ने लिखा है।

मीमांसाशास्त्र के अनुसार स्वर्ग कोई स्थान विशेष नहीं किन्तु प्रीति का नाम ही स्वर्ग है जैसा कि मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने लिखा है कि-**ननु, स्वर्गशब्दो लोके प्रसिद्धो विशिष्टे देशे, यस्मिन् न उष्णं, न शीतं, न क्षुत्, न तृष्णा, न अरतिः, न ग्लानिः, पुण्यकृतः एव प्रेत्य तत्र गच्छन्ति, नान्ये। अत्र उच्यते, यदि तत्र केचित् अमृत्वा गच्छन्ति, तत आगच्छन्ति अजनित्वा, तर्हि स प्रत्यक्षो देश एवञ्जातीयकः न तु अनुमानात् गम्यते** (शा.भा. 6/1/1)=पूर्वपक्षी का कथन यह है कि स्वर्ग शब्द उस देश का वाचक है जिसमें न अधिक गर्मी, न सर्दी, न प्यास, न भोगों की रुचि और न ग्लानि होती है, पुण्यात्मा लोग वहां जाते हैं अन्य नहीं, इसका समाधान यह किया है कि यदि वहां जीते ही लोग जाते हैं और फिर यहां आ जाते हैं तो वह देश प्रत्यक्ष हुआ और यह बुद्धि में नहीं आता कि ऐसा कोई देश होगा, और आगे पूर्वपक्षी यह कहता है कि कई एक सिद्ध पुरुष उसको देख आए हैं उन्होंने यहां आकर वर्णन किया है इसका उत्तर सिद्धान्तवादी ने यह दिया कि ऐसे सिद्धों के होने में कोई प्रमाण नहीं जो इस देह से स्वर्गलोक में चलें जायें और फिर आकर कथन करें, **आख्यानमपि पुरुषप्रणीतत्त्वात्**=जो कहानियाँ इस विषय में पाई जाती हैं वह मनुष्यरचित होने से आदरयोग्य नहीं, अत एव स्वर्ग कोई देशविशेष नहीं। इस प्रकार स्वर्ग के स्थानविशेष होने का खण्डन करके प्रीति को ही स्वर्ग माना है और वह प्रीति परमात्मा का प्रेम है। इसी प्रीतिरूप स्वर्ग को मीमांसाकार ने **साधकन्तुतादर्थ्यात्** (6/1/2) इस सिद्धान्त सूत्र में वर्णन किया है कि कोई द्रव्यविशेष स्वर्ग नहीं किन्तु स्वर्ग के साधक होने से द्रव्यों में उपचार से स्वर्ग शब्द का प्रयोग पाया जाता है मुख्यतया नहीं, इसलिए मीमांसा में निरूपण किये यज्ञ उक्त स्वर्ग के साधन हैं और तद्विहित विधियें उसी स्वर्ग का विधान करती हैं जिसका वर्णन निम्न मन्त्र में किया गया है-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (यजु. 31/16) अर्थात् उस परम पूजनीय परमात्मा का ज्ञानरूप यज्ञ से विद्वान् लोग पूजन करते हैं और पूजारूप धर्मों को धारण करते हुए दुःख से सर्वथा रहित उस **(नाकम्) स्वर्ग पद** को प्राप्त होते हैं जिसको

साधन सम्पन्न पुरुष पूर्व सृष्टियों में प्राप्त हुए हैं।

यही स्वर्ग मीमांसा का एकमात्र लक्ष्य है और ज्ञानयज्ञ तथा कर्मयज्ञ सब इसी के साधन वर्णन किये गये हैं, इसी स्वर्ग की सिद्धि के लिए परमात्मा के इस बृहत् ब्रह्माण्ड में अहर्निश बसन्त ऋतुरूप घृत, ग्रीष्म ऋतुरूप समिधा और शरद ऋतुरूप हवि से हवन हो रहा है जो प्रत्येक मनुष्य को वैदिक यज्ञ की शिक्षा दे रहा है।इसी स्वर्ग के साधन सब कर्म मीमांसा में कथन किये गये हैं जिनका विस्तार इस शास्त्र में भली प्रकार पाया जाता है। जिनमें मुख्य हैं दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम (सोमयाग)और अश्वमेध।

यहां संक्षेप में इस बात को दर्शाना भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि मीमांसाशास्त्र केवल यज्ञों का ही वर्णन नहीं करता अपितु शास्त्रसम्बन्धी सब विषयों का वर्णन करता है कि किन किन वर्णों को यज्ञादि कर्मों के करने का अधिकार है, स्त्री को यज्ञ करने का अधिकार है वा नहीं, ब्राह्मणादि वर्णों के उपनयन कर्म का क्या प्रकार है, वेद किस प्रकार ईश्वरकृत तथा नित्य हैं, वेदों के साथ विरोध पाये जाने से अन्य ग्रन्थों का कैसे प्रामाण्य है, इत्यादि सहस्त्रों विषयों की मीमांसा इस शास्त्र में की गई है।अत एव इसका मीमांसा नाम सार्थक है।

–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (1-8) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

वेदों में मृत्यु-उपरांत सतत जीवन एवं इस्लाम बौद्ध धर्म की मान्यताओं का विश्लेषण

-डॉ. नीलम त्रिवेदी

एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
डी.जी.पी.जी. कॉलेज, कानपुर

मृत्यु के बाद का जीवन मानव मात्र के लिये सदैव से एक रहस्य रहा है और उत्सुकता भी कि मृत्यु के बाद वह कहाँ जाता है। यदि वह आत्मा के रूप में है, तो आत्मा का क्या स्वरूप है, आत्मा किस रूप में रहती है। पुनर्जन्म होता है या नहीं? पितरों की हमारे जीवन में क्या भूमिका है? तथापि निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि मृत्यु के पश्चात् जीव पहले कहाँ जाता है, किस रूप में और कितने समय तक पुनः जन्म लिये बिना रहता है। मृत पुरुष की जीवात्मा का उसके पूर्व सम्बन्धियों से कोई सम्बन्ध रहता है अथवा नहीं तथा जीवित पुत्रादिकों का उसके लिये कुछ कर्त्तव्य है या नहीं? अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। अनेक मत-मतान्तर के बाद एक बात जो अधिकतर धर्म स्वीकारते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य की आत्मा जीवित रहती है। यह आत्मा वह किसी भी रूप में स्वीकारते हो पर स्वीकारते अवश्य हैं। देश काल और दूरी तथा किसी प्रकार के संचार माध्यम के ना होते हुये भी एक ही सत्य को अनेक धर्मों ने स्वीकारा है। इस्लाम धर्म यह तो स्वीकारता है कि व्यक्ति अपने शुभ-अशुभ कृत्यों का फल अनिवार्य रूप से प्राप्त करता है और यदि वह अपने कृत्यों का फल इस जीवन में पूर्णतया नहीं भोग पाता है तो मृत्यु के बाद उनका फल भोगता है किन्तु वह पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करता है। वही बौद्ध धर्म पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। बौद्ध धर्म की यह निश्चित मान्यता है कि प्राणी अनेक जन्मों में संसरण करता है।

वर्तमान में यम, पितर, आत्मा इत्यादि एक विवादास्पद विषय है परन्तु यह सभी विषय महत्व के होते हुये विशेष विचारणीय हैं। वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास होने से, वेद के क्या विचार हैं यह जानना नितान्त आवश्यक है। वैदिक ऋषियों ने कर्म को अत्यधिक महत्व दिया है, जिसके द्वारा ही जीव उच्च पद,

प्रतिष्ठा एवं पुनर्जन्म प्राप्त करता है। वैदिक ऋषियों की अटूट आस्था एवं विश्वास था कि सुकृत कर्म लोक-कल्याण तथा आत्म कल्याण का आधार हैं। वेदों के अनेक मंत्रों में सुकृत कर्म की प्रशंसा तो दुष्कृत कर्म की निन्दा भी की गयी है। किन्तु यहां प्रश्न यह उठता है कि मानव अपने अच्छे तथा बुरे कार्यों के फल का भोग इसी जीवन में प्राप्त कर लेता है अथवा मृत्यूपरांत भी उसे कर्म-फल भोग के लिये पुनः पृथ्वीलोक पर जन्म धारण करना पड़ता है। इस प्रश्न के समाधान में ऋग्वेद संहिता में वामदेव तथा वसिष्ठ आदि ऋषियों ने अनेक पूर्वजन्मों का संकेत दिया है। ऋषि वामदेव के अनुसार "मैं मनु हुआ, मैं सूर्य तथा मैं इस समय दीर्घतमस् ऋषि का कक्षीवान नामक मेधावी पुत्र हूँ।" मैं ही कुत्स नामक अर्जुनी का पुत्र हुआ तथा मैं ही उशना नामक त्रिकालदर्शी ऋषि था–

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा।।[1]

इसी प्रकार एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि निन्दनीय कार्यों का निषेध करने पर पुनः निजदेह प्राप्त होती है–हे स्त्री पुरुष! तुम अपने इष्टापूर्त कर्मों के बल से स्वर्ग लोक में पितरों तथा सर्वनियन्ता परमात्मा से मिलो और निन्दनीय कर्मों का त्याग कर पुनः पुनः अपनी देह को प्राप्त हो, तेजस्वी बनो, स्त्री, पुत्रादि से संगत का लाभ प्राप्त करो–

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः।।[2]

ऋग्वेद के दसवें मण्डल, सूक्त 16 मंत्र 1 के अनुसार जब तक देह सम्पूर्णतया जल नहीं जाती अथवा सम्पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती, तब तक आत्मा उस देह के आस-पास ही मंडराती रहती है। इस निर्देशानुसार आत्मा को देह से शीघ्र मुक्त कराने के लिये व उसके लिए निर्धारित भावी स्थान पर शीघ्रता से पहुंचाने के लिये शरीर का शीघ्र दहन करना ही अधिक उत्तम है, क्योंकि अग्निदहन के सिवाय शरीर को सम्पूर्णतया शीघ्र नष्ट करने का अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है।

मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः।।[3]

मंत्र के चतुर्थपाद से यहा पता चलता है कि मृतात्मा शरीर से पृथक् होकर

---

1. ऋग्वेदः 4.26.1
2. अथर्ववेद : 18.3.58
3. ऋग्वेदः 10.16.1

पितृलोक में जाती है। अग्नि आत्मा को पितृलोक में भेजती है।[1] वेद में मृतों के दो विभाग मिलते हैं अग्निदग्धा और अनग्निदग्धा। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि ऋग्वेदानुसार जो अग्निदग्धा हैं और जो अनग्निदग्धा हैं दोनों का ही पुनर्जन्म होता है।[2]

वर्तमान में मुसलमान व ईसाई शव (मुर्दे) को गाडते हैं। पारसी जमींन पर वायु में रखते है। जलाना व जल में बहाना हिन्दुओं में प्रचलित है पर वेदानुसार आत्मा को देह से मुक्त कराने के लिये, शीघ्रता से निर्धारित भावी स्थान पर पहुंचाने के लिये मृत शरीर का शीघ्र दहन करना आवश्यक है।

पितर द्युलोक में निवास करते हैं। द्युलोक तीन प्रकार का है सबसे नीचे जिसमें मेघमण्डल स्थित है, दूसरा उससे ऊपर जिसमें ग्रहनक्षत्र आदि स्थित हैं, तीसरा इससे ऊपर जो प्रद्यौ के नाम से प्रख्यात है यही वह द्युलोक है जिसमें पितर निवास करते हैं।[3] पर इन लोकों में कैसे और किस मार्ग से जाते हैं उसके सम्बन्ध में अथर्ववेद में पितृयाण शब्द आया है जिससे विदित होता है कि 'पितृयाण' और 'देवयान' दो मार्ग हैं। पितृयाण मार्ग संभव है सूर्य किरणें हो।

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः, सुकृतां धत्त लोके॥[4]

जहाँ हमारे पूर्व पितर गये हुये है वहाँ पहले के मार्गो द्वारा तू जा। वहाँ स्वधा से तृप्त होते हुये दोनो राजा यम और वरुण देव को देख।[5]

इन मंत्रों से ज्ञात होता है कि पितरों के जाने का मार्ग पितृयाण नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त एक मंत्र ऐसा भी आया है जिसमें पितृयाण से आने का भी उल्लेख पाया जाता है।

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥[6]

हे सोम पान करने वाले पितरो! गंभीर पितृयाण मार्ग से आओ। हमारे लिये आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो। इससे विदित होता है कि पितृयाण मार्ग से पितरों

---

1. ऋग्वेदः 10.16.1
2. ऋग्वेदः 10.15.14
3. अथर्ववेदः 18.2.48
4. अथर्ववेदः 18.4.1
5. अथर्ववेदः 18.1.54
6. अथर्ववेदः 18.4.62

का आवागमन होता है। उपरोक्त मंत्र में अग्नि को पितृयाण मार्ग का जानने वाला बताया गया है। इस मंत्र में अग्नि पितरों का एक विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है अग्नि पितरों को जानती है।[1] पितृलोक को जानती है।[2] इतना ही नहीं पितृलोक में जाकर पितरों को हवि पहुँचाती है।[3] उनको हमारे यज्ञ में भी अपने साथ ले आती है।[4] पितर सूर्य किरणों के साथ जाते हैं,[5] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पृथिवी लोक की हद तक पार्थिव अग्नि पितरों को ले जाती है तथा द्युलोक में वही अग्नि सूर्य रूप में परिणत होकर ले जाती है।

जिस अग्नि की सांय व प्रातः वन्दना की जाती है उस अग्नि को पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों (कव्य) को ले जाकर पितरों को पहुँचाती है। अतः पितर अपना दूत बना, ज्ञान अग्नि को हवि लाने भेजते है।[6]

यम का लोक कैसा है और वह कहाँ स्थित है इस विषय में निम्न मंत्र में वर्णन है–

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः।।[7]

इस मंत्र से पता चलता है कि यम दक्षिण दिशा में रहता, यानि यमलोक दक्षिण दिशा में है।[8] वेद के अनुसार पितर द्युलोक में रहते हैं अर्थात् द्यु में दक्षिण की ओर यमलोक है। घोर कर्म करने वाले पापियों को यमलोक में स्थान नहीं मिलता है। वे यमलोक से परे पापलोक में जाते है।

ऋग्वैदिक ऋषि का मानना है कि मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाला परलोक का जीवन भी देहयुक्त ही होता है। जैसा निम्न मंत्र में अग्निदेव से प्रार्थना करते हुये कहा गया है कि मृतक अपनी शेष आयु को पूर्ण करने हेतु शरीर से युक्त हो जाये–

---

1. अथर्ववेदः 18.4.41
2. अथर्ववेदः 18.4.80
3. अथर्ववेदः 18.3.42
4. अथर्ववेदः 18.2.10
5. अथर्ववेदः 12.2.45
6. अथर्ववेदः 18.4.65
7. अथर्ववेदः 9.7.20
8. अथर्ववेदः 18.2.48
9. अथर्ववेदः 12.11.2

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः।।[1]

हे अग्निदेव! जो यह प्रेतात्मा स्वाहा, स्वधा आदि से युक्त मंत्रों से विचरण कर रहा है, उसे आप पितरों के पास पहुँचा दें तथा आपकी यदि कृपा हो तो अपनी शेष आयु को पूर्ण करने हेतु अस्थि एवं रक्तमय शरीर से युक्त हो जाये।

पितरों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों से भी मृत्यूपरांत जीवन सिद्ध है, सोम सम्पादन करने वाले कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्कृष्ट पितर उन्नति करें।[2] जिन हिंसा रहित सत्य वा यज्ञ को जानने वाले पितरों ने प्राण, बल व जीवन को प्राप्त कर लिया है, वे पितर संग्रामों में, युद्ध में वा बुलाये जाने पर हमारी रक्षा करें।[3] ब्रह्मयज्ञ में, कर्मयज्ञ में, प्रतिष्ठा में, चेतना युक्त कार्यों में, संकल्प में[4] आशीर्वाद कार्य में, देवों के आवाहन में पितर हमारी रक्षा करें, पाप से छुड़ाना, सुख व कल्याण करना[5], गर्भधारण करना[6], संतति बढ़ाना[7] पितरों के यज्ञ में आने प्रार्थना सुनने[8] आदि का उल्लेख मिलता है। एक मंत्र ऐसा भी प्राप्त होता है जिसमें पितरों के द्वारा प्रकाश देने के महत्व को दर्शाया गया है। पितर बादलों को फोड़कर उसमें छिपे प्रकाश को प्राप्त कराता है[9]

प्राणी के कर्म फलों के भोग हेतु ही संसार की सृष्टि होती है। उसके द्वारा संचित कर्म ही उसके पुनर्जन्म के हेतु होतें है। मृत्यु का अधिष्ठाता यम हमारे सभी कार्यों एवं गति को जानता है, उसके मार्ग से कोई बच नहीं सकता।[10] मनुष्य का प्राणान्त होने पर उसकी आत्मा तीन प्रकार से विभिन्न योनियों में विचरण करती है। जीव के उत्तम कर्म पितरलोक प्रदान करते हैं, अधम कर्म नरक लोक (तिर्यगादि) लोक प्रदान करते हैं, जबकि पाप पुण्य से मिश्रित कर्म उसे यह पृथ्वी लोक प्राप्त कराते हैं। जिसमें प्राणी पुनः पुनः जन्मों के द्वारा स्व-स्व कर्म फलों को भोगता है।

---

1. ऋग्वेदः 10.16.5
2. ऋग्वेदः 10.15.1
3. ऋग्वेदः 1.106.3
4. ऋग्वेदः 6.52.4
5. ऋग्वेदः 7.35.12
6. ऋग्वेदः 9.83.3
7. ऋग्वेदः 10.56.6
8. ऋग्वेदः 10.15.6
9. ऋग्वेदः 10.107.1
10. ऋग्वेदः 10.14.2

पुनः जन्म ग्रहण करता है। अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से पुनर्जन्म का वर्णन प्राप्त होता है जबकि ऋग्वेद में सूक्ष्म रूप से वर्णन है। अथर्ववेद में प्रार्थना की गयी है कि समस्त देवता मुझे पुनः प्राण, मन, इन्द्रियों को प्राप्त कराये, जीवात्मा मुझमें पुनः प्रवेश करे–

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥[1]

पुनर्जन्म की यह अवधारणा वेद के उपरान्त विभिन्न धर्मों ने ग्रहण की बौद्ध दर्शन भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। संयुक्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं, "सभी जीव मरेंगे मृत्यु में ही जीवन का अंत होता है, उनकी गति अपने कर्म के अनुसार होगी, पुण्य–पाप के फलानुसार पाप करने से नरक की पुण्य करने से सुगति की प्राप्ति होती है, इसलिये सदा पुण्य कर्म करें, जिससे परलोक बनता है, अपना कमाया पुण्य ही प्राणियों के लिये परलोक में आधार होता है।" बौद्ध दर्शन की यह निश्चित मान्यता है कि सत्व (प्राणी) अनेक जन्मों में संसरण कर अपने कर्मों का भोग करता है।[2] उसमें भी वर्तमान जीवन के कर्मफल का सम्बन्ध भावी जन्मों से माना गया है। इस दृष्टि से उसमें तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं (1) दृष्ट धर्म–वेदनीय–इसी जन्म में फल देने वाला, (2) उपपद्य–वेदनीय–अगले जन्म में फल देने वाला, (3) अपरपर्याय वेदनीय–अगले जन्म के पश्चात् किसी भी जन्म में फल देने वाला।[3]

बौद्ध धर्म अनात्मवादी होते हुये भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करता है। बौद्ध धर्मानुसार शरीर के नष्ट होने पर आत्मा भी नष्ट हो जाती है जबकि दूसरी ओर वह पुनर्जन्म में विश्वास करता है तो प्रश्न पैदा होता है कि आत्मा के अभाव में पुनर्जन्म किसका होता है। आत्मा के अभाव में पुर्नजन्म दुष्कर है। उनके अनुसार पुनर्जन्म मनुष्य के अहंकार (चरित्र) का होता है न कि आत्मा का।[4] बौद्ध धर्म का अन्तिम उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है, निर्वाण गति के पूर्व आत्मा को पुनः–पुनः शरीर धारण करना पड़ता है।[5]

इस्लाम धर्म यह तो मानता है कि व्यक्ति अपने शुभ अशुभ कृत्यों का फल अनिवार्य रूप से प्राप्त करता है और यदि वह अपने कृत्यों के फल को इस जीवन

---

1. अथर्ववेदः 7.69.1
2. बौद्ध धर्म दर्शन पृ. 284, आचार्य नरेन्द्र देव, राष्ट्र भाषा परिषद् पटना।
3. अभिधम्मत्थसंगहो पृ. 60, अनु. भदन्त आनन्द, बुद्ध विहार, लखनऊ।
4. विश्व के प्रमुख धर्म–डॉ. एस.एम. नागौरी।
5. तुलनात्मक धर्म दर्शन–याकूब मसीह पु. 76।

में पूर्णतया नहीं भोग पाता है तो मरण के बाद उनका फल भोगना है। इस्लाम के धर्म ग्रन्थ कुरान शरीफ में ऐसी अनेक आयते हैं जो पुनर्जन्म को सिद्ध करती हैं। कुरान की लगभग एक चौथाई आयतों में मृत्यु और उसके बाद के जीवन का वर्णन है लेकिन फिर भी वह पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करता है। उनकी मान्यता के अनुसार कयामत (प्रलय) का रोज ऐसा होगा जब सारे मुर्दे कब्रों से जिन्दा किये जायेंगे। उस दिन अपने अपने कर्मों का हिसाब होगा। हजरत इसराफिल खुदा के आदेश से सुर फूकेंगे, उनके ऐसा करने से आकाश रेजा रेजा होकर बादलों की तरह उड़ने लगेगा।[1] पुनर्जन्म को स्वीकार करने वाली कुरान की आयतें निम्न है–

1. मुर्दा भी जी उठा है (35–9 सूरः फातिर)[2]
2. लोग नरक में चिल्लाते हैं कि ऐ परखरदिगार हमको निकाल (कर दुनियाँ में फिर ले चल) (35-37 सूरः फातिरिन्)[3]
3. बेशक हम मुर्दों को जिलायेंगे और बतौर करनी जो निशान पीछे छोड़ चुके हैं वह सब हम लिखते जाते हैं (36-12 सूरतु यासीन्)[4]
4. अल्लाह ही दाने ओर गुठली का फाड़ने वाला है मुर्दा से जिन्दा और जिन्दा से मुर्दा निकालता है। यही अल्लाह है फिर तुम कहाँ उल्टे भटके चले जा रहे हो। (6-95 सुरतुला अन्आमि)।[5]
5. तुम अल्लाह का इन्कार करते हो, जबकि तुम बेजान थे, तो उसने तुममे जान डाली, फिर वह तुमको मौत देगा, फिर तुमको जिलायेगा (2-28 सूरतुल् बकरति)[6]

ऐसी अनेक आयते हैं जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त को प्रकट करती है किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस्लामिक विद्वान् पुनर्जन्म से इन्कार करते हैं। इस्लाम धर्म में भी शब्बेरात में आत्माओं को अल्लाह छोड़ता है, आत्माओं को भोग लगाया जाता है।

आत्मायें देखती हैं कि उनके बच्चे अच्छे काम कर रहे हैं उन्हें आशीर्वाद देती हैं, श्राप देती हैं। आदि।

---

1. सूरः नहल, कुर्आन शरीफ लखनऊ किताब घर।
2. सूरः फातिर, कुर्आन शरीफ लखनऊ किताब घर।
3. सूरः फातिरिन्, कुर्आन शरीफ लखनऊ किताब घर।
4. सूरतु यासीन्, कुर्आन शरीफ लखनऊ किताब घर।
5. सुरतुला अन्आमि, कुर्आन शरीफ लखनऊ किताब घर।
6. सूरतुल् बकरति, कुर्आन शरीफ लखनऊ किताब घर।

उपर्युक्त समग्र विवेचन से स्पष्ट होता है कि, पुनर्जन्म सत्य सिद्धान्त है जिसे त्यागा नहीं जा सकता। मानव द्वारा किये गये कर्मों के आधार पर ही उसकी लोक एवं परलोक में स्थिति होती है। जो विचारणायें कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी पुनर्जन्म को नहीं मानतीं, वे इस तथ्य की व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं कि वर्तमान जीवन में जो नैसर्गिक वैषम्य है उसका कारण क्या है, क्यों एक प्राणी सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है और क्यो दूसरा दरिद्र एवं हीन कुल में जन्म लेता है। क्यों एक प्राणी को मनुष्य शरीर मिलता है और दूसरे को पशु शरीर मिलता है। यदि इसका कारण ईश्वर की इच्छा है तो वह अन्यायी सिद्ध होता है। वैयक्तिक विभिन्नतायें ईश्वरेच्छा का परिणाम नहीं, वरन् व्यक्ति के अपने कृत्यों का ही परिणाम हैं। नैतिकता एवं कर्म ही उसकी वर्तमान परिस्थिति के लिये उत्तरदायी हैं। नैतिक विकास केवल एक जन्म की साधना का परिणाम नहीं है वरन् उसके पीछे जन्म जन्मान्तर की साधना होती है। ब्रैडले नैतिक पूर्णता की उपलब्धि को अनन्त प्रक्रिया मानते हैं।[1] यदि नैतिकता आत्मसाक्षात्कार की दिशा में सतत् प्रक्रिया है तो फिर बिना पुनर्जन्म के इस विकास की दिशा में आगे कैसे बढ़ा जा सकता है। गीता में भी नैतिक पूर्णता की उपलब्धि के लिये अनेक जन्मों की साधना आवश्यक मानी गयी है।[2]

अतः इस प्रकार यह जन्म और मृत्यु उसी परमात्मा के आदेशानुसार है। मृत्यूपरान्त का वृत्तान्त जानना मनुष्य की शक्ति के बाहर है पर इतना सत्य है कि शरीर त्याग के पश्चात् प्राणियों को (उनके कर्मानुसार) ऐसा दिव्य शरीर प्राप्त होता है जिससे पितृ लोक के सुखों का भोग किया जा सके।

✦✦✦

---

1. एथिकल स्टडीज पृ. 313—ब्रेडले आक्सफोर्ड 1962 ई.।
2. गीता 6-45 शांकर भाष्य, गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2018।

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (9-20) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

पातंजल महाभाष्य में प्रकीर्ण विज्ञान-बीज और वर्तमान विज्ञान

-ले. डॉ. रामप्रकाश वर्णी

अध्यक्ष संस्कृत-विभाग,

लो.रा.म.वि. जसराना, फिरोजाबाद (उ.प्र.)

पतंजलि के महाभाष्य को सागर से उपमित किया जाता है। यतोहि यह सागर की तरह उत्तान है और सागर की ही तरह अगाध एवम् अनन्त रत्नों का भण्डार है[1]। भर्तृहरि 'पतंजलि' को 'तीर्थदर्शी' और 'महाभाष्य' को 'संग्रह' जो कि 'व्याडि' कृत है, का 'प्रतिकंचुक' तथा सभी 'न्याय-बीजों' का अधिष्ठान मानते हैं[2]। इस सम्बन्ध में 'पुण्यराज' का भी यही अभिमत है[3]। तदनुसार 'महाभाष्यं हि बहुविधविद्यावादबलमार्षं व्यवस्थितम्'[4] अर्थात् 'महाभाष्यम्' में अनेक 'विद्यावाद' और 'दर्शन-प्रवाद' हैं। इस पातंजल-ग्रन्थ की सबसे बड़ी देन तो यही है कि सूत्रकार पाणिनि और वार्त्तिककार वररुचि-कात्यायन के मत भी इसी के माध्यम से स्वरूप ग्रहण करते हैं। न केवल इतना ही नाममात्र शेष अनेक आचार्यों के मान्य मत भी इसी में चर्चित और समीक्षित हुए हैं। यही कारण है कि विविधा-सम्भृत यह महद्ग्रन्थ नानाविध ज्ञान-विज्ञानों का 'आकर-ग्रन्थ' माना जाता है। अकृतबुद्धिजन इसके रहस्य को नहीं समझ सकते हैं[5]। हरदत्त मिश्र ने तो स्पष्ट लिखा है-"तस्य निःशेषतो मन्ये प्रतिपत्ता अपि दुर्लभः[6]"। इस महत्तम ग्रन्थ में 'वर्ण, शब्द, आकृतिपदार्थ, द्रव्यपदार्थ, गुणपदार्थ, लिंग, वचन,

1. अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
   तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावस्थितिनिश्चयः। वा०प० 2.4.78
2. कृतेऽथ पतंजलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
   सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥ वा०पा० 2.4.85
   बैजिसौभवर्हयक्षैः शुष्कबीजानुसारिभिः।
   आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकंचुके॥तत्रैव 2.486
3. द्र.—वाक्यपदीय-टीका 2.485॥
4. महाभाष्यं हि बहुविधविद्यावादबलमार्षं व्यवस्थितम्। वा0प0 2.488 पर पुण्यराजीय टीका
5. द्र.- वाक्यपदीयम् 2.4.78
6. द्र.- पदमंजरी 1.1.3

संख्या, वृत्ति, वाक्य, वाक्यार्थ, शब्दार्थ-सम्बन्ध और उनका 'नित्यानित्यत्व' प्रभृति अनेक विषयों पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इसमें अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं जो अपने आप में एक-एक दर्शन का रूप छिपाये हुए हैं तथा पतंजलि की व्यापक और उत्कृष्ट भावभूमि के संकेतक हैं। तद्यथा–"सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्था शक्य आस्थातुम्"[1]। संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते[2], 'प्रातिपदिक-निर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति'[3], 'न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति'[4], 'ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति'[5], 'इह व्याकरणे यः सर्वाल्पीयान् स्वरव्यवहारः स मात्रया भवति नार्धमात्रया व्यवहारोऽस्ति'[6], 'स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः, भेर्याघातवत्'[7] आदि। यहाँ हम महाभाष्य के उन कतिपय स्थलों को उद्धृत कर रहे हैं जिनका सम्बन्ध परम्परागत प्राचीन विज्ञानसरणी से है। उनकी इस संक्षिप्त लेख में वर्तमान विज्ञान से तुलना करके प्रासंगिकता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया जायेगा।

1. पतंजलि ने अपने महाभाष्य (1/1/50) में एक 'आन्तर्यतम' नामक सिद्धान्त को प्रदर्शित किया है। उनका लेख है–"अचेतनेष्वपि। तद्यथा-लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति नोर्ध्वमारोहति, पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः, स आकाशदेशे निवाते नैव तिर्यगृ गच्छति नाऽवागवरोहति, अब्विकारो अप एव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा ज्योतिषो विकारो अर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितो नैव तिर्यग् गच्छति नावागवरोहति ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः।" इस भाष्यांश की व्याख्या करते हुए उपाध्याय कैयट ने अपने 'प्रदीप' में लिखा है–"अचेतनेष्वपीति। न्यायस्य व्याप्तिप्रतिपादनपरमेतत्। अब्विकार इति। अन्तरिक्षे सूक्ष्मः समुद्रोऽस्तीति ताद्विकारः सर्वा आप इति काष्ठादिस्थानामपामग्निसंयोगाद् धूमो विकारः सूर्यविकारोऽर्चिः सूर्यमेव गच्छति[8]। कैयट के इस 'प्रदीप' पर टिप्पणी करते हुए पं. नागेश भट्ट ने अपने 'प्रदीपोद्योत' में लिखा है– "अन्तरिक्ष इति। अन्तरिक्षे भव आन्तरिक्ष्यः। अत एव निदाघे निशि निरावरणे

---

1. द्र. –महाभाष्यम् 2.1.58
2. द्र.– तत्रैव 1.1.1
3. द्र.– तत्रैव 1.1.57
4. द्र.– तत्रैव 5.2.94
5. द्र.– तत्रैव 1.4.29
6. द्र.– तत्रैव 8.1.1
7. द्र.– तत्रैव 1.1.70
8. द्र.– महाभाष्यप्रदीप 1.1.50

शयानानां शैत्योपलम्भः। तस्यैव च रविकिरणसम्पर्केण मेघरूपतया वायुवेगाद् वृष्टिः। आन्तरिक्ष्याणामपां परम्परया धूमो विकार इति दर्शयति। तद्विकारः सर्वा इति। सूर्यविकार इति। अत एव दावाग्नेर्मध्याह्नादौ सूर्यकरसम्पर्कात् क्रौर्यातिशयो दृश्यतें"[1]। पतंजलि और उसके इन दोनों व्याख्याकारों के इस लेख का सार यह है–इस भाष्यसन्दर्भ में 'आन्तर्य-सिद्धान्त' का वर्णन किया गया है। इस सिद्धान्त की उत्त्थानिका यह है कि जब हम गीले वस्त्र धूप में सुखाते हैं या अँगीठी आदि पर पतीली में रखकर जल गरम करते हैं तब उबलते हुए जल से Water Vapours जल-धूम ऊपर की ओर क्यों जाते हैं? इसका उत्तर इस 'आन्तर्य-सिद्धान्त' के द्वारा दिया गया है। यह सिद्धान्त चेतन और अचेतन उभयात्मक जगत् पर कार्य करता है। तथा हि-अचेतन मिट्टी का ढेला ऊपर को फैंके जाने पर बाहुवेग के अनुसार सीधा ऊपर जाता है किंचित् भी तिरछा नहीं आता और थोड़ी ही देर में पृथिवी की ओर लौट आता है। क्योंकि वह पृथिवी का ही विकार या अंश है, अतः आन्तर्य से वह पृथिवी की ओर ही आता है। इसी प्रकार नभस्वान् अर्थात् अन्तरिक्ष में अवस्थित 'सूक्ष्म-आप' जो कि बाष्प की अवस्था में होते हैं, उनका विकार या अंश होने से Water Vapours आकाश में जहाँ तक वाताघात का अभाव है वहां न वो तिरछा जाता है और न ही नीचे उतरता है प्रत्युत 'अब्विकार' होने से आन्तर्य के कारण ऊपर आकाश में ही फैल जाता है। इसी प्रकार 'अर्चिः' अग्नि की लपटें आग्नेय विकार होने के कारण निर्वात आकाश में सुप्रज्वलित होती हुई न तो नीचे की ओर को जाती हैं और नहीं तिरछी जाती हैं। अपितु सीधी ऊपर की ओर ही उठती हैं क्योंकि वे आग्नेयांश हैं। अतः वे अग्नि के भाण्डागार रूप सूर्य की ओर ही आन्तर्य से जाती हैं। लोक में भी अपनी माँ से प्रताडित होने के बाद भी कोई भी शिशु अपनी माँ की गोद में ही शरण लेता है क्योंकि वह माँ का अंश है, इसलिए वह माँ का ही अनुगमन करता है[2]। महाभाष्यकार के इस मत की लिंकनबार्नेट के द्वारा उल्लिखित 'अरस्तू' के इस लेख से सम्पुष्टि होती है–

Aristotile whise watwal acience dominated western thought for two thousand years, believed that man could arrlive at an understanding of ultimate reality by reasoning from selfevident Principles it is, for example a silf evident Principles that every thing in the universe has its proper Place lence one can deduce that objects fall to the ground be-

1. द्र.- तत्रैव-प्रदीपोद्योतः।
2. द्र.- वेदविद्यानिदर्शन, ले० पं० भगवद्दत्त रिसर्चस्कॉलर, पृ० 30

cause that's where they belong and sunoke goes up because that's where it belongs. इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष नियमों पर आश्रित तर्क के द्वारा तत्त्वज्ञान हो सकता है। जैसे–यह प्रत्यक्षदृष्ट है कि संसार में प्रत्येक वस्तु का अपना एक उचित स्थान होता है। परिणामतः भूमिस्थ पदार्थ ऊर्ध्व–प्रक्षेपण के बाद भूमि पर ही गिरते हैं। यतोहि वे उसी से ही सम्बन्ध रखते हैं और धुआँ अन्तरिक्ष से सम्बन्ध रखता है, अतः वह ऊपर को ही जाता है। 'वायुपुराण' से भी पतंजलि के मत का समर्थन होता है, तद्यथा–

अपां योनिः समुद्रश्च, तस्मात्तं कामयन्ति ताः।
मेधया चैवामृताश्चैव भवन्ति प्राप्य सागरम्॥ अ० 27/26
तस्मादपो न रुन्धीत समुद्रं कामयन्ति ताः॥ 27/27

Gravitation अथवा आन्तर्य–

यह मत न्यूटन के गुरुत्व–आकर्षण सिद्धान्त से ज्यादा सटीक है, क्योंकि गुरुत्व–आकर्षण सिद्धान्त में निर्वात–स्थान में धूम्र का ऊर्ध्व–गमन क्लिष्टता उत्पन्न करता है। किंच अनेक सौरमण्डलों Galaxy का जो दिनानुदिन दूरंगमन हो रहा है, वह भी न्यूटन के उक्त नियम से विरुद्ध है। जैसा कि पॉल काऊडर्ग के इस लेख से स्पष्ट है Einsteins law possesses certain characteristics which are very different from those of newtons it explains gravitation in termsnet of force, but of defarmation of space near massive bodies in the vicinity of a star, space locally in not Euclideanl it is curvest.

2. **सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम्** (अष्टा. 4.2.20) सूत्र के द्वारा पाणिनि और पतंजलि दोनों ने यह अभिमत प्रकट किया है कि वर्ष के प्रत्येक महीने की पूर्णमासी का चन्द्रमा जिस–जिस नक्षत्र के सर्वाधिक निकट होता है उस–उस नक्षत्र के नाम से उस–उस महीने का नाम रखा गया है। जैसे– पूर्णिमा का चन्द्र जब चित्रा–नक्षत्र के समीप होता है, तब उस महीने को 'चैत्र–मास' की संज्ञा दी जाती है। यहाँ यह अवधेय है कि नक्षत्रों की 'गति, अवस्थिति' और उनका जगत् पर पड़ने वाला 'प्रभाव' ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत समीक्षित होता है, तथापि 'सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्' के अनुसार सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने द्वादश–मास–नाम विषयक उक्त सिद्धान्त को स्थापित और व्याख्यायित किया है, जो ठीक ही है। पुनरपि यह विजिज्ञासितव्य है कि क्या कभी वास्तव में ये ग्रह–नक्षत्र समीप में आ जाते हैं? यह 'पूर्णचन्द्र' सचमुच ही किसी नक्षत्र विशेष के समीप आ जाता है? यहाँ ज्ञातव्य है कि 'पृथ्वी से बृहस्पति' लगभग

63 करोड़ कि.मी. की दूसरी पर अवस्थित है, यह सुनिश्चित हो चुका है। एतदनुसार ये दोनों ही अपने एक निश्चित वृत्तपथ पर चलते हुए सदैव इतनी दूरी बनाये रखते हैं। इसमें कदापि नैयून्य या आधिक्य नहीं होता है। इसी प्रकार कन्या-राशि पर कहा जाने वाला 'चित्रा' नक्षत्र जो कि पृथ्वी से लगभग 1542000 अरब कि.मी. दूर है और जिसकी किरणें धरती तक पहुँचने में लगभग 160 वर्ष लगते हैं। अतः पृथ्वी से इसकी दूरी को 160 प्रकाश-वर्ष माना जाता है। वह प्रतिवर्ष पूर्णचन्द्र के सन्निकट कैसे आ सकता है? अतः इस पर विशेष व्याख्यान की आवश्यकता है। विचारकों का मत है कि ये दोनों नक्षत्र स्व-स्व स्थानों को छोड़कर कभी भी पास-पास नहीं आते हैं किन्तु आकाश में चलते हुए ये यदा-कदा एक दूसरे की सीध पर आ जाते हैं। इसलिए खुली आँखों से देखने पर ये समीप में अवस्थित से प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि आकाश में ये सभी तारागण समान दूरी पर अवस्थित से दिखाई पड़ते हैं। इसी से चैत्र-मास में पूर्णचन्द्र की समतुल्य दूरी पर चन्द्रमा के समीप 'चित्रा' दृष्ट होता है। वस्तुतः इनकी जो देशगत दूरी है, वह तो बनी ही रहती है। फिर प्रश्न यह उठता है कि पाणिनि और पतंजलि ने भिन्न-भिन्न नक्षत्रों की उक्त सूत्र और उसके महाभाष्य के द्वारा पूर्णचन्द्र से समीपता कैसे प्रतिपादित कर दी? ज्योतिषशास्त्र के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ये सभी तारे वास्तव में तो अपनी-अपनी सुनिश्चित दूरी पर ही स्थित रहते हैं परन्तु जब इनकी सम्मिलित किरणें प्राणिजगत् पर पड़ती हैं तो इनका प्रभाव अवश्य पड़ता है। इन प्रभविष्णु सम्मिलित किरणों के आधार पर ही इनका परस्पर नैकट्य विवक्षित होता है। फलाफल-वर्णन के सन्दर्भ में दृष्टि के आधार पर इनको समीप कहना असंगत नहीं है[1]। स्यात् इसी दृष्टि से उक्त आचार्यद्वय ने मासनामों में नक्षत्रों की निकटता का प्रतिपादन किया है।यह उनकी सूक्ष्म 'विज्ञान-दृष्टि' का निदर्शन है।

3. **भूवादयो धातवः** (अष्टा० 1.3.1) सूत्र के महाभाष्यस्थ 'क्रियावचनो धातुः' और 'भाववचनो धातुः' इस मत तथा 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' (अष्टा० 3. 1.87) सूत्र के 'कर्मस्थक्रियक' और 'कर्मस्थभावक' धातु-सिद्धान्त के आधार पर 'व्यापार' और 'फल' को 'धात्वर्थ' माना गया है तथा इन्हें 'एकवृन्ता-वलम्बिफलद्वयवत्' स्वीकार किया गया है। यहाँ 'व्यापाराश्रय' को 'कर्त्ता' तथा 'फलाश्रय' को 'कर्म' बतलाया गया है[2]। इसी के अनुसार 'देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति' वाक्य में देवदत्त को 'कर्त्ता' और काष्ठ को 'कर्म' माना जाता है

1. द्र.- भारतीयदर्शन तथा आधुनिक विज्ञान, ले०डॉ० सुद्युम्न आचार्य, पृ० 31-33
2. द्र.- वैयाकरणभूषण सार, ले० कौण्ड भट्टः-धात्वर्थपकरणम्

क्योंकि 'देवदत्तनिष्ठ व्यापार से काष्ठ में उत्पन्न होने वाला द्वैधीभावरूप-फल स्पष्ट देखा जाता है। परन्तु इस मान्यता के अनुसार 'देवदत्तः घटं जानाति' वाक्य में 'घट' की 'कर्मसंज्ञा' नहीं हो सकती है, क्योंकि देवदत्तनिष्ठ 'दृशिधात्वर्थ-व्यापार' का 'फल' न तो घट में रहता है और न इस 'व्यापार' का 'घट' पर कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव ही पड़ता है। इस समस्या का परम्परागत समाधान प्रस्तुत करते हुए वैयाकरण एक वैज्ञानिक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं–"दृशि-क्रिया" में 'तैजस्-अन्तःकरण' और 'चक्षुरिन्द्रिय' से प्रकाश की कुछ किरणें निकलती हैं जो घट-पट आदि बाह्य वस्तुओं को सब ओर से घेर कर उन्हीं के आकार में परिणत हो जाती हैं। जिससे उन घट-पट आदि बाह्य वस्तुओं के सब ओर रहने वाले स्वाभाविक 'तमोमय-आवरण' का विभंजन हो जाता है और घट-पट आदि बाह्य वस्तुओं में 'सत्त्वगुण' या 'प्रकाशकत्व' प्रतिपन्न हो जाता है। फलतः द्रष्टा अपने नेत्रों से घट-पट आदि सभी बाह्य वस्तुओं का दर्शन करने में सफल हो जाता है। इस प्रकार दृशि-क्रियागत व्यापारजन्य 'आवरणभंग' रूप 'फल' उक्त घट-पट आदि बाह्यवस्तुओं में ही प्रेषित होता है। अतः वे 'फलाश्रय' होने के कारण 'कर्मत्व' को प्राप्त कर लेती हैं और उनमें तत्प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति होकर उपर्युक्त समस्या सर्वथा समाप्त हो जाती है।

यहाँ यह अवधेय है कि परम्परा से प्राप्त तथ्यों के आधार पर वैयाकरणों ने उपर्युक्त वाक्य-स्थल में द्वितीया विभक्ति की प्रतिपन्नता के लिए उस समय की सोच के आधार पर यह सिद्धान्त अपनाया है। इसका दार्शनिक-जगत् में अपना महत्त्व है, परन्तु वर्तमान भौतिक-विज्ञान इसे स्वीकार नहीं करता है। तदनुसार तैजस्-अन्तःकरण और आँखों से कोई किरणें नहीं निकलती हैं और नाही आँखें बाह्य वस्तुओं के साथ संयुक्त होकर प्रत्यक्ष कराती हैं। प्रत्युत आँखें बाह्यवस्तुओं से परावर्तित किरणों के साथ संयुक्त होकर उनका प्रत्यक्ष कराती हैं। आधुनिक भौतिकीविद् यह भी नहीं मानते हैं कि आँखों के काले-तारे के अग्रभाग में वर्तमान 'चक्षुरिन्द्रिय' से किन्हीं किरणों का उद्भव होता है। उनका स्पष्ट कथन है कि आँखों में जो काला तारा है उसके अग्रभाग के काला होने के कारण वहाँ बाहर से आयी हुई किरणों का अवशोषण होता है और इस काले तारे के 'कनीनिका' नामक छिद्र से बाहरी किरणें अन्दर प्रविष्ट होती हैं। जब कोई चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है तब बाह्य वस्तुओं का 'रेटिना' पर जो बनने वाला 'प्रतिबिम्ब' है वही देखा जाता है और हमारा मस्तिष्क अपने 'दृष्टिक्षेत्र' में उस प्रतिबिम्ब का भी प्रतिबिम्ब बनाकर उसे बाह्य-प्रतिबिम्ब समझता है[1]।

1. द्र.- भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान, पृ0 34-38

अपरंच प्राच्यानुमोदित उपर्युक्त वैयाकरण-मत में एक विप्रतिपत्ति यह भी है कि लोक में सूर्य को 'तमोऽपहः' माना जाता है और उसे 'प्रकाशोदय' का 'कारण' तथा 'तिमिर-विनाश' को 'कार्य' बतलाया जाता है। परन्तु यह मान्यता चिन्तनीय है क्योंकि 'प्रकाशोदय' और 'तिमिर-विहनन' कोई दो घटनाएँ न होकर एक ही घटना की ठीक उसी प्रकार दो व्याख्यायें हैं जिस प्रकार 'कोलाहल' की उत्पत्ति और 'शान्ति' का विनाश। अतः इससे 'कारण-कार्यभाव' का निर्द्धारण नहीं हो सकता। यतोहि कभी भी 'प्रदीप' और 'तिमिर' का 'सामानाधिकरण्य' न तो होता है और न सम्भव है। इसी कारण 'शिशुपालवधम्' में कवि को यह लिखना पड़ा है—"सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः, कुतः"। अतः सूर्य का "तमोऽपहत्व" सन्दिग्ध हो जाता है। यदि उक्त 'कारण-कार्यभाव' स्वीकार करते हैं तो महापण्डित नागार्जुन के इस विकट प्रश्न का क्या उत्तर होगा?

कथमुत्पद्यमानेन प्रदीपेन तमोहतम्।
नोत्पद्यमानो हि तमः प्रदीपः प्राप्नुते यदा॥

अप्राप्यैव प्रदीपेन यदि वा निहतं तमः।
इहस्थः सर्वलोकस्थं स तमो निहनिष्यति॥

—माध्यमकशास्त्र 7/10,11

अत एव महाभाष्योपोद्विलित वैयाकरणों का उक्त मत प्राथमिक तो है परन्तु परिनिष्ठित नहीं। यह बाद के चिन्तकों, विविध दार्शनिकों और वैज्ञानिकों को विचार करने के लिए एक सुस्पष्ट पृष्ठभूमि अवश्यमेव प्रदान करता है। इसलिए इसका विशिष्ट महत्त्व है।

4. **ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति (म.भा. 1.4.29)** महाभाष्यकार ने 'आख्यातोपयोगे' सूत्र के महाभाष्य में ज्ञान को 'ज्योतिः' अर्थात् 'प्रकाश' की तरह का बतलाकर अपनी एक वैज्ञानिक-सोच को अभिव्यक्ति प्रदान की है। वहाँ प्रसंग यह है कि 'आख्यातोपयोगे' सूत्र का आरम्भ नहीं करना चाहिए, यतो हि—उपाध्यायादीधते प्रभृति वाक्यप्रयोग-स्थल में ज्ञान 'उपाध्याय' से विश्लिष्ट होकर शिष्य तक पहुँचता है, अतः यहाँ 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (अष्टा. 1.4.24) सूत्र से ही उपाध्याय की 'अपादान-संज्ञा' सिद्ध हो जायेगी। इस पर असहमति व्यक्त करते हुए कहा गया है कि—ऐसा नहीं किया जा सकता है, क्योंकि 'वृक्ष' आदि से 'फल' आदि के विश्लेष की भांति 'ज्ञान' उपाध्याय से आत्यन्तिकतया विश्लिष्ट नहीं होता है। अन्यथा शिष्यों को ज्ञान देने के बाद उपाध्याय को ज्ञानशून्य हो जाने की विप्रतिपत्ति प्राप्त होगी। इस पर समाधान-भाष्य प्रस्तुत करते हुए पतंजलि मुनि ने कहा है— "ज्योतिर्वज्ज्ञाननि भवन्ति" अर्थात्

ज्ञान व्यापक होता है। वह उपाध्याय में भी रहता है और शिष्य में भी रहता है। शिक्षणकाल में उस ज्ञान की प्रतिपादक सम्वाहक 'ध्वनि' उपाध्याय से बार-बार उत्पन्न होकर भी सादृश्यवशात् यह वही है, वही है ऐसी अनुभूति होती है। परिणामतः उपाध्याय का ज्ञान 'नात्यन्तताया अपक्रामति सन्ततत्वात्' अर्थात् उपाध्याय से हमेशा के लिए अपक्रान्त नहीं होता है। हम इसको यों भी समझ सकते हैं–ज्ञान 'ज्योति' अर्थात् दीपशिखा के समान होते हैं। जैसे–किसी प्रदीप की ज्वाला रूप ज्योति-दीपशिखा अव्यवहित रूप से अतिद्रुत सतत नवनवोन्मेष रूप ज्योतिरन्तर को उत्पन्न करते हुए भी सदृशता के कारण यह वही 'दीपशिखा' है, ऐसी लोकानुभूति दृष्ट होती है। ठीक वैसे ही उपाध्याय का विविध प्रकारक ज्ञान भी शब्दरूपता को सतत धारण करता हुआ भी उसी ज्ञान का निमित्त बनता है। भाष्यकार के इन दोनों समाधानों में अन्तर यह है–प्रथम समाधान में ज्ञान की नित्य-नूतन उत्पत्ति-विवक्षित न होकर उत्पन्न हुए ज्ञान की सतत-वृद्धि अभीष्ट है और द्वितीय समाधान में पूर्वोत्पन्न ज्ञान का विनाश तथा नूतन ज्ञानांश की उत्पत्ति का सतत प्रवाह विवक्षित है। यहाँ यह भी अवधेय है कि 'ज्योति' शब्द से धधकती हुई विकराल ज्वालमाल अभिप्रेत नहीं है। प्रत्युत शीतल-मन्द-अमन्दाह्लाददायिनी चन्द्र चाँदनी ही अभिप्रेत है जो कि भर्तृहरि के 'नमः शान्ताय तेजसे[1]' इस मंगल वाक्य से इंगित हुई है। यह एक ऐसी 'अतीन्द्रिय ऊर्जा' है जो व्यक्ति में अतिरिक्त शक्ति का आधान करती है। यह न तो कोई स्थान ही घेरती है और न ही इसका कोई 'द्रव्यमान' होता है।

यों तो भारतीयदर्शनशास्त्र में 'प्रकाश' को 'द्रव्य' माना गया है क्योंकि इसमें तदनुसार 'द्रव्यत्व' के लिए अत्यन्त अपेक्षित 'गुण' और 'क्रिया' नामक दो तत्त्व स्पष्टतः विद्यमान हैं। जैसा कि 'क्रियागुणवत्समवायिकारणं द्रव्यम्' इस लक्षण-वाक्य से सुस्पष्ट है। इसमें 'गुण' के रूप में ऊष्मा और 'क्रिया' के रूप में 'गतिशीलता' स्पष्ट रूप से देखी जाती है। अतः दर्शनशास्त्र के अनुसार 'प्रकाश-ज्योति एक कण' रूप 'द्रव्य' है तथा शुक्लत्व और 'ऊष्म-स्पर्श' आदि इसके 'गुण' है।

परन्तु वर्तमान विज्ञान 'प्रकाश' को 'द्रव्य' मानने के पक्ष में नहीं है। तदनुसार सम्प्रति पूर्व में अन्विष्ट 'तेजोद्रव्यकण-सिद्धान्त', 'ऊष्मजनसिद्धान्त' और 'ईथर' नामक 'द्रव्यसिद्धान्त' अस्वीकृत हो चुके हैं। इनके 'संहति-संरक्षण' नियम के अनुसार 'द्रव्य' वह है जिसमें किसी भी गुण-धर्म के परिवर्तन से द्रव्यमान में कोई परिवर्तन नहीं होता है। यदि दर्शनशास्त्रीय मान्यता के अनुसार 'प्रकाश' को

---

1. नीतिशतकम्-1

'तेजोमय-द्रव्यकणों' से निर्मित माना जाये तो इनके पानी में प्रविष्ट होने पर या लोहे को (अयस्पिण्ड) को गर्म करने पर अग्नि से निकलने वाले तेज:कणों के लौहपिण्ड में प्रविष्ट हो जाने से इनके 'द्रव्यमान' में अवश्य ही परिवर्तन होना चाहिए, परन्तु ऐसा दृष्ट नहीं होता है। इसलिए प्रकाश को तेजोद्रव्य-कण रूप नहीं माना जा सकता है। अपरंच द्रव्य के लघुतम कण में भी घनत्व होता है और वह एक निश्चित स्थान में अवस्थित होता है तथा स्वस्थान में आने वाले किसी अन्य द्रव्य के आगमन का प्रतिषेध भी करता है एवं कोई भी द्रव्यकण सम्पीडक होते हुए भी अन्य कण को दबाता भी है। परन्तु 'प्रकाश' में यह सब दृष्ट नहीं होता है। इसलिए 'प्रकाश' द्रव्य न होकर 'ऊर्जा' है।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि 'गतिज-ऊर्जा' स्वयं 'गति' न होकर ऊर्जा का प्रभाव-मात्र ही होती है। हम इस 'गति-प्रभाव' को देखकर ही 'ऊर्जा' को पहचान पाते हैं, वैसे तो यह अतीन्द्रिय ही है। इसी ऊष्मोर्क्जन्य प्रभाव से किसी वस्तु में ऊष्मा के अस्तित्व का अवबोध होता है[1]।

परन्तु उपर्युक्त विविध वैज्ञानिक-तर्कों के द्वारा 'प्रकाश' के 'द्रव्यत्व' मत का खण्डन करके जो उसके 'ऊर्क्त्व' पक्ष को उभारा गया है, वह भी बाद के अनुसन्धानों की निकषा पर विघट्टित होकर खरा नहीं उतरा है। यतो हि नोवेल-पुरस्कार विजेता एल० लन्दाऊ ने अपने अनुसन्धानों के द्वारा यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि गरम-पिण्ड का द्रव्यमान ठण्डे-पिण्ड (अयस्पिण्ड) के द्रव्यमान की अपेक्षा कुछ अधिक होता है। अर्थात् ऊष्मा के कारण उसके द्रव्यमान में थोड़ा सा परिवर्तन अवश्य होता है। इस प्रकार जब देखते हैं तो हमें द्रव्य और ऊर्जा दोनों अत्यन्त निकट खड़े हुए से दृष्ट होते हैं और वे किसी एक वस्तु के दो पक्षों की तरह अलग-अलग प्रतीत होने लगते हैं। जबकि इनमें तत्त्वत: कोई भी मौलिक भेद नहीं रहता है। इस निष्कर्ष की सम्पुष्टि आंइस्टाइन के प्रसिद्ध सूत्र $E=mc^2$ से होती है। जिसमें बतलाया गया है कि 'ऊर्जा' तथा मापा गया द्रव्य समरूप होते हैं। अत एव सूर्य प्रतिसैकिण्ड जितना 'द्रव्यमान' वास्तव में 'प्रकाश-ऊर्जा' के रूप में परिवर्तित करता है उतने द्रव्यमान की उसमें कमी होती रहती है। इस से सिद्ध होता है कि विश्व में 'प्रकाश-ऊर्जा' तथा 'द्रव्य-कण' मौलिक या तात्त्विक रूप से भिन्न-भिन्न नहीं हैं[2]। अस्तु, पतंजलि के उपर्युक्त कथन में 'प्रकाश' के दोनों ही रूपों की अन्विति देखी जा सकती है। जब इसे 'द्रव्य' माना जाता है तब उसमें दर्शनशास्त्रीय वह पदार्थता भी आ जाती है, जिसके सम्बन्ध में पतंजलि ने 'न पदार्थ: सत्तां

---

1. द्र.- सरल भौतिकी-ले० एल० लन्दाऊ, गति और ऊष्मा पृ० 18
2. द्र.- भारतीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान, पृ० 70-80

व्यभिचरति' म०भा० 5.2.94 'स तत्र बुध्या नित्यां सत्तामध्यवस्यति' म0भा0 3.3.133 यह कहा है तथा उनके 'ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति' इस कथन से प्रकाश के 'ऊक्त्वं' पक्ष को भी समर्थन प्राप्त होता है।

5. **स्फोट-सिद्धान्त**-'स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः। भेर्याघातवत्' (म०भा०1.1.70) भारतीय मनीषा ने शब्दविषयक जिस अत्यन्त सम्मानित और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की स्थापना की है, वह है 'स्फोट-सिद्धान्त' इसका सम्पूर्ण श्रेयः संस्कृतवैयाकरणों को प्राप्त हुआ है। इसके आद्य विचार-बीजों का अंकुरण आचार्य व्याडि कृत 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में और पल्लवन पतंजलि के महाभाष्य में तथा पुष्पण और फलों के रूप में समग्र विकास महावैयाकरण भर्तृहरिकृत 'वाक्यपदीयम्' में हुआ है। बाद में कई विद्वानों ने इस सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में गम्भीर आलोडन-विलोडनात्मक चिन्तन प्रस्तुत किया है। महाभाष्य-प्रणेता पतंजलि ने 'शब्द' को परिभाषित करते हुए जो द्विविध लक्षण प्रस्तुत किये हैं, उनमें प्रथम लक्षण से अनित्य-ध्वनियों से अभिव्यंग्य 'नित्य-स्फोट' रूप शब्द पर एवं द्वितीय लक्षण से 'अनित्य-ध्वनि' रूप 'लोकप्रसिद्ध-शब्द' अर्थात् 'निरर्थक-आवाज' पर प्रकाश पड़ता है।

यहाँ यह अवधेय है कि अक्षर वा वर्णों का क्रमिक संयोग सुबन्त और तिङन्त के रूप में 'शब्द' और 'पद' तथा पदों का 'आख्यातं-साव्ययकारक-विशेषणम्' रूप समवाय 'वाक्य' कहलाता है। संस्कृत व्याकरणशास्त्र में वर्णों वा अक्षरों की तथा शब्दों की अर्थवत्ता 'जाति' और 'व्यक्ति' के रूप में उभर कर सामने आयी है। प्रथम में अनेक व्यक्तियों में एकवचन का आरोप किया जाता है जैसे अनाज का ढेर 'गोधूम-राशिः' और द्वितीय में अनेक व्यक्तियों में बहुवचन का प्रयोग होता है, जैसे 'गावश्चरन्ति' आदि। इस प्रकार 'पद' और 'वाक्य' जाति-व्यक्तिपदार्थक भेद से उभयात्मक ही हो सकते हैं। परन्तु 'ध्वनि' की अपनी 'विशेष-प्रकृति' के कारण इन दोनों में कुछ कठिनाईयाँ उपस्थित होती हैं, तद्यथा-जातिपदार्थ के अनुसार 'गोधूमराशि' के समान अनेक अक्षरों का समूह 'एक-शब्द' नहीं बन सकता है, क्योंकि महाभाष्यकार का स्पष्ट कथन है 'एकैकवर्णवत्तिनी वाक्। न द्वौ युगपदुच्चारयति[1]' अर्थात् वाणी एकक्षण में क्रमशः एक वर्ण का ही उच्चारण करती है, दो वर्णों का नहीं। जिस समय वह 'गौः' शब्द घटक 'गकार' को बोलती है, उस समय वह 'औ' और 'विसर्जनीय' को नहीं बोलती है और जब 'औ' को बोलती है तब 'गकार' और विसर्जनीय नहीं होते हैं और 'औकार' के उच्चारणकाल में 'गकार' नष्ट हो जाता है तथा 'विसर्जनीय' के उच्चारणकाल में 'गकार' और 'ओकार' दोनों ही नष्ट हो

1. द्र.- महाभाष्यम् 1.4.109

जाते हैं। इस प्रकार उत्पाद-विनाशशील वर्णों का समुदाय कभी नहीं बन सकता है, फिर तज्जन्य 'पद' और 'वाक्य' की निष्पन्नता का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है। यह समस्या जाति-व्यक्ति रूप दोनों ही पक्षों में एक समान है। इस समस्या के समाधान के लिए जिस सिद्धान्त की स्थापना हुई है वही व्याकरणशास्त्र में 'स्फोट' कहा जाता है। इसका व्यौत्पत्तिक अर्थ 'जो ध्वनियों (मध्यमानाद) से प्रस्फुटित या अभिव्यक्त होता है, उसको स्फोट' कहते हैं। यह होता है। इसके अनुसार अनेक अक्षर-ध्वनियों को सुनकर अन्तःकरण में एक विलक्षण आकार (संस्कार) का सृजन होता है। यह विशिष्ट-सृजन बाह्य-अक्षरा से भिन्न केवल 'एक-शब्द' या केवल 'एक-वाक्य' के स्वरूप का होता है। यही अर्थ का बोध कराता है। इसे ही 'स्फोट' कहते हैं। इस 'स्फोट' के अन्तर्गत पदों में वर्ण नहीं होते हैं और वर्णों के भी अवयव नहीं होते हैं एवं वाक्य के मध्य भी पृथक्-पृथक् अक्षर या शब्द के रूप में कोई भी विभेद नहीं होता है[1]। स्पष्ट है कि यह वर्णन वैखरीवाक् से उत्पाद्य शब्दों का नहीं है। अतः यही मानना होगा कि यह विवरण अन्तःकरण के उस 'आकार' का विवेचन है, जहाँ पृथक्-पृथक् अक्षरों का विभेद समाप्त हो जाता है। फलतः यह 'स्फोट' अन्तःकरण का अन्यों से सर्वथा भिन्न एक विलक्षण 'आकार' है। जो स्वयं 'ध्वनिरूप' न होकर 'ध्वनिव्यङ्ग्य' होता है। निश्चय ही शब्द को लेकर वैयाकरणों के विशिष्ट चिन्तन से प्रसूत 'स्फोट' की यह व्याख्या अत्यन्त वैज्ञानिक है। बाह्य-जगत् में अक्षर-समूह बनाने का कोई अन्य उपाय नहीं है। अतः एक मस्तिष्क में निर्मित एकाकार शब्द-संवेदना के द्वारा ही 'अर्थबोध' होता है। इस सम्बन्ध में वर्तमान विज्ञान की भी कोई विमति नहीं है। तदनुसार अनेक रेखा-खण्डों से एक विशिष्ट-चित्र की अनुभूति बहुत ही सुखद तथा मनोहारी चमत्कार है। अगर ऐसा नहीं होता तो हमारी यह दुनियाँ अधूरी ही रह जाती। एक गणितज्ञ 'यूलर' के अनुसार 'यदि हम रेखाओं से अतिरिक्त चित्र की अनुभूति नहीं कर पाते, तो चित्रकार की सम्पूर्णकला बेकार हो जाती। यतो हि तब तो हमें अमुक जगह लाल तथा अन्य जगह नीला धब्बा है या यहाँ काली तथा कुछ सफेद लगने वाली रेखाएँ हैं यही प्रतीत होता[2]।' रेखाओं से स्वभिन्न आकार रूप एक चित्र की प्रतीति 'स्फोट' की प्रतिरूपक है। अतः स्पष्ट है कि इस

---

1. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
   वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ वा०प० 1.73
2. If we were used to judge about things as there are in reality then this art would be impossible, it would be as if we are all-blind. Invain the artist would exhaust his skill in colour blending, for we would merely say there is a red spot on this board, here a blue one, here a black and there several whitish lines.

'स्फोट-सिद्धान्त' का क्षेत्र बहुत व्यापक है और यह विज्ञानसम्मत भी है। परन्तु वैयाकरणों ने इसे 'शब्द' तक ही सीमित कर दिया है। इसमें यदि पतंजलि के महाभाष्य का योगदान न होता, तो यह विशिष्ट विचारवल्लरी कभी भी पल्लवित और पुष्पित नहीं हो पाती। इसी प्रकार "श्रोत्रोपलब्धि-बुद्धिर्निर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः" "आयामो दारुण्यमणुताखस्येति०" म०भा० 6.3.30, "शब्दस्य नित्यानित्यत्वविवेचनम्" 'वाग्भेद-निरूपणम्', 'ध्वनि-सिद्धान्तः' 'स्वरविज्ञान' प्रभृति अनेक विषय बीज रूप में महाभाष्य में विद्यमान हैं। भूगोल, खगोल, गणित, ज्योतिष एवं 'वाणिज्य' से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री इसमें सुगुम्फित हुई है। 'सामाजिक-विज्ञान' एवं 'राजनीतिविज्ञान' के विप्रकीर्ण तथ्य इसमें पदे-पदे अनुस्यूत हैं। प्रस्तुत लेख में विस्तरभिया दिङ्मात्र निदर्शन किया गया है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (21-49) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

अहिंसा की यथार्थता- किसके लिए कितनी व्यवहार्य?

पण्डित वेदप्रकाश शास्त्री

एम.ए (संस्कृत हिन्दी), फाजिल्का, पंजाब

वैदिक धर्म में अहिंसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक, लौकिक तथा परवर्ती सभी ग्रन्थों में अहिंसा की महत्ता का वर्णन किया गया है।

अहिंसा का अर्थ है- अ+हिंसा=हिंसा का अभाव। हिंसा शब्द **'हिसि हिंसायाम्'** (पाणिनिधातुपाठः- 10/256) धातु से नुम् (अष्टाध्यायी- 7.1.58) और टाप् प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। न हिंसा=अहिंसा नञ् तत्पुरुष समास होकर अहिंसा शब्द बनता है।

शब्दकोष के अनुसार अहिंसा का अर्थ

1. धातु हिंस्- रुधादि, चुरादिगण=आघात करना, ताड़ना करना, चोटिल करना, घायल करना, हानि करना, पीड़ित करना, वध करना। रु.- हिनस्ति। चु-हिंसयति।

हिंसा- हिंस् अ टाप्। हत्या, वध, हानि पहुंचाना, अनिष्ट करना, चोरी आदि करना, द्वेष, ईर्ष्या। (शब्दार्थ कौस्तुभ पृ. 1330)

अहिंसा- किसी प्राणी को न मारना। मन, वचन, कर्म से किसी प्राणी को पीड़ा न देना। (शब्दार्थ कौस्तुभ पृ.170)

अर्थात् हिंसा का न होना ही अहिंसा है।

2. अहिंसा- किसी को दुःख न देना, किसी जीव को न सताना या न मारना। (भाषा शब्द कोष पृ. 180)

हिंसा- जीवों का वध करना, मार डालना, सताना, कष्ट या दुःख देना, पीड़ा पहुंचाना, बुराई करना या चाहना, शरीर और प्राणों का वियोग करना ही हिंसा है। (भाषा शब्द कोष पृ. 1674)

3. अहिंसा- किसी को दुःख न देना। मन, वचन, कर्म से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाना, शास्त्रों के नियमविरुद्ध किसी की हिंसा न करना। (नालन्दा विशाल शब्द सागर पृ. 112)

हिंसा– प्राणियों को मारने–काटने और शारीरिक कष्ट देने की वृत्ति, किसी को हानि पहुंचाना। (नालन्दा विशाल शब्द सागर पृ. 1540)

कोषकारों के अनुसार अहिंसा का सारार्थ है किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देना। मन, वचन, कर्म से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाना, हत्या या वध न करना, ईर्ष्या– द्वेष, वैरभाव न रखना, किसी जीव को न सताना, अनिष्ट न करना ही अहिंसा है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री योगदर्शन भाष्य में अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखते हैं–

किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि का उभरना भी हिंसा है। अतः इनका परित्याग ही अहिंसा है। पृ. 135

महर्षि पतञ्जलि योग दर्शन में योग के आठ अंगों में से प्रथम अंग 'यम' के बारे में कहते हैं–

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहयमाः॥ योग. 1/2/30

यहां पर यमों की परिगणना में 'अहिंसा' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। जिस व्यक्ति की योग के प्रति रुचि है उसे योग की पहली सीढ़ी 'अहिंसा' पर अपना कदम रखना होगा।

महर्षि व्यास ने इसका भाष्य करते हुए अहिंसा का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः॥

किसी भी प्राणी से वैरभाव न रखना ही अहिंसा है।

जब किसी से वैरभाव करना ही बुरा कहा गया है तो मन, वाणी और कर्म अर्थात् शरीर से अनिष्ट चिन्तन करना, सताना, दुःखी करना, हत्या करना तो बहुत ही बुरा है।

अतः सब प्रकार (मनसा, वाचा, कर्मणा) से सब कालों में सब प्राणियों के प्रति पीड़ा देने की भावना का परित्याग करना अथवा वैरभाव न रखना ही 'अहिंसा' है। महर्षि दयानन्द कहते हैं–

"सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम–प्रीति से वर्तना।" ऋ. भा. भू. पृष्ठ–200

तत्राहिंसा....॥ योग. 1/2/30

महर्षि ने इस सूत्र की व्याख्या में 'अहिंसा' का अर्थ 'वैरत्याग' किया है। स. प्र. समु. तृ.पृ. 45

अहिंसैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्॥ मनु. 2/159 यहां पर अहिंसा का अर्थ- वैर बुद्धि छोड़ के, निर्वैरता से किया है। स.प्र.समु.3, पृ. 47, समु. 10 पृ. 217

प्राणियों का कल्याण करने की कामना से वैरबुद्धि छोड़ के अनुशासन अर्थात् उपदेश करना श्रेयस्कर है।

दूसरे शब्दों में अहिंसा का अर्थ है- निर्वैरता अर्थात् वैरभाव को छोड़ कर सबसे प्रेम करना, कल्याण की कामना करना-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

अतः हम सभी यही कामना करते हैं-

1. विश्व का, कल्याण हो। 2. प्राणियों में, सद्भावना हो।

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं-

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ योगः 1/2/35 महर्षि दयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है-

"जब अहिंसा धर्मनिश्चय (व्यवहार में दृढ़) हो जाता है तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है। किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है।" ऋ. भा. भू., उपासना विषय, पृ. 203

दृष्टान्त रूप में महर्षि दयानन्द के जीवन की ही घटना देखिए-

गंगामन्दिर के पुजारियों को लोग गंगापुत्र कहते हैं। एक गंगापुत्र स्वामी जी के समीप रहता था। उसका नित्य प्रति का काम था- स्वामी जी से थोडी दूर खड़े होकर गालियां देना। ऐसा बीसों दिन चलता रहा परन्तु महाराज ने उसे कभी कुछ नहीं कहा।

श्री स्वामी जी के पास अनेक भक्त आया करते थे। उनमें से कोई लड्डू लाता तो दूसरा पेड़े चढ़ा जाता। कोई बादाम, मिश्री आदि भोज्य पदार्थ अर्पण कर जाता। स्वामी जी महाराज प्रसाद को अपने भक्तों में बांट दिया करते थे।

एक दिन सायंकाल कुछ लड्डू पेड़े बच गए। महाराज सोच ही रहे थे कि ये प्रसाद किसे दें? इतने में उनकी दृष्टि उस अपशब्द बोलने वाले गंगापुत्र पर पड़ी। उसे आदर पूर्वक बुलाकर वे सकल पदार्थ दे दिए और कहा- "सायं काल हमारे पास आया करो। हम तुम्हें खाद्य वस्तुएं दिया करेंगे।"

छः सात दिन तक वह गंगापुत्र स्वामी जी से मोदक पाता रहा परन्तु महाराज ने उससे गालियों की कोई बात न की। उसके मन में पश्चात्ताप होने लगा। अन्त में

वह स्वामी जी के चरणों में गिर पड़ा और आंसू भर कर कहने लगा– "भगवन्! यदि मेरी कठोरता का कोई पार नहीं तो आप की सहनशक्ति भी असीम है। मेरे पाप क्षमा करें।"

महाराज ने आशीर्वाद देकर कहा– हमने आपके वचनों को स्मृति में स्थान ही नहीं दिया है। आप भी अब उन बातों को स्मरण न कीजिए।

इससे विदित होता है कि महर्षि दयानन्द मनु महाराज की कसौटी पर पूर्णतः खरे उतरते हैं–

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।। मनु. 6/48

जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे। अपितु सदा उसके कल्याण का उपदेश करे।

ऐसा ही उन्होंने गंगापुत्र से स्नेहयुक्त मधुरवाणी का व्यवहार किया जिससे उसका व्यवहार बदल गया।

महर्षि ने विषदाता रसोईए जगन्नाथ को क्षमा करते हुए कुछ रुपये देकर बाहर भेज दिया था। यह अहिंसा का जीता जागता उदाहरण है।

अहिंसा की बात चल रही है तो अहिंसा की प्रतिमूर्ति महात्मा बुद्ध का दृष्टान्त प्रस्तुत करना भी अप्रासंगिक न होगा महात्मा बुद्ध सत्य, अहिंसा और प्राणियों पर दया का उपदेश करते हुए स्थान-स्थान पर भ्रमण कर रहे थे। जब एक नगर में उपदेश करने के पश्चात् अगले नगर में जाने को तत्पर हुए तो भक्तों ने कहा– महात्मन्। आप वहां न जाएं क्योंकि मार्ग में बहुत बड़ा जंगल पड़ता है। उसमें एक निर्दयी भयंकर डाकू रहता है जो लोगों को लूट कर मार देता है।

यह सुनकर बुद्ध घबराए नहीं। उन्हें अपने प्राणों की चिन्ता न थी। वह बोले– "मेरा काम तो उपदेश के द्वारा मनुष्यों को सुधारना है।"

वह चल पड़े। घने जंगल में पहुंचे। पदचाप सुनकर डाकू भयंकर गर्जना के साथ क्रोधित होकर बोला– "ठहर जाओ।" इतना कह कर बुद्ध को मारने के लिए तलवार ऊपर उठाई।

महात्मा बुद्ध ठहर गए। बड़े शान्त भाव से मुस्कराते हुए बोले– "मैं तो ठहर गया परन्तु तुम कब ठहरोगे?"

महात्मा बुद्ध के मुखमण्डल पर जब उसकी नजर पड़ी, ध्यानपूर्वक देखा– घबराहट का कोई निशान नहीं, शान्तचित्त और मन्दमुस्कान। कहने लगा– "आपके कहने का क्या मतलब?"

महात्मा बुद्ध का उत्तर था- "भाई, मेरे कहने का मतलब था- तुम अपने बुरे कर्मों से कब ठहरोगे?"

अब तक डाकू ने अनेक लोगों के प्राण लिए थे। परन्तु किसी को भी मौत के मुंह में ऐसा शान्त नहीं पाया था और न ही ऐसा प्रश्न-उत्तर करने वाला। उसका हाथ उठा का उठा ही रह गया। तलवार उठाई पर चल न सकी। उसका सारा क्रोध जाता रहा। बुद्ध के मधुर, स्नेहसिक्त शब्दों ने वह काम किया जो बड़े-बड़े शस्त्र और शास्त्र भी करने में समर्थ न थे।

डाकू ने तलवार फेंक दी। बुद्ध के चरणों में गिर पड़ा। बुद्ध ने उसे बांह पकड़ कर उठाया। अब बुद्ध आगे-आगे और डाकू पीछे-पीछे चल रहा था। पहले वह डाकू अंगुलिमाल था, परन्तु अब शिष्य अंगुलिमाल। वह महात्मा बुद्ध से दीक्षा ले रहा था। उसे अपने किए पर पश्चात्ताप था। अपराधपूर्ण जीवन को त्याग कर अब वह धर्मात्मा बौद्ध भिक्षु बन चुका था।

भगवन्! आप धन्य हैं। धन्य है आपका सत्य और अहिंसा से परिपूर्ण जीवन! पता नहीं ऐसे कितने लोगों का उद्धार किया होगा? आपने महर्षि पतञ्जलि की इस उक्ति को आत्मसात् करके सार्थक कर दिया-

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्यागः।। योग. 1/2/35

अतः गहन विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि-

अहिंसा परमो धर्मः तथाऽहिंसा परमो दमः।
अहिंसा परमं दानं अहिंसा परमं तपः।।

महाभा. अनु. पर्व. 116/20

अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही परम संयम है, अहिंसा ही परम दान है, अहिंसा ही परम तप है।

भीष्म पितामह कहते हैं-

अहिंसा सकलो धर्मः हिंसा-अधर्मः तथाहितः।।

महा. शान्ति. 272/20

अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहितकारी है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रीन्मनुः।। मनु. 10/63

मनु ने चारों वर्णों का संक्षिप्त रूप से यह धर्म बताया है- अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (शुद्धता), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रिय निग्रह)

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। गीता 17/14

ब्रह्मचर्य और अहिंसा शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।

स्पष्ट है कि मनसा, वाचा, कर्मणा किसी के भी प्रति अनिष्टता का अभाव, किसी भी प्राणी को न मारना, न ही पीड़ा देना अहिंसा है। यह व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व सभी के लिए अत्यावश्यक है। यह न केवल योगी, साधु, सन्त, निःस्पृह, त्यागी, तपस्वी, महात्मा सदृश व्यक्तियों के लिए ही आवश्यक है अपितु प्रत्येक जनसाधारण व्यक्ति, नेता, अभिनेता तथा सभी उत्तरदायी मनुष्यों के लिए भी सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक आचरणीय है।

हिंसा के प्रकार–

1. **कायिक हिंसा**– कायेन हस्तादिना।

किसी प्राणी का प्राण हरण करना, अंग भंग करना अथवा अन्य किसी भी प्रकार से शारीरिक पीड़ा पहुंचाना कायिक हिंसा है।

2. **मानसिक हिंसा**– मनसा संकल्पेन।

किसी के मन को कष्ट देना अथवा मन से क्लेश देने के सम्बन्ध में सोचना मानसिक हिंसा है।

3. **वाचिक हिंसा**– परुषया मर्मच्छिदा वाचा। कठोर भाषण के द्वारा दूसरों को कष्ट पहुंचाना वाचिक हिंसा है। अतः–

1. **सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।**
प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः।। मनुः 4/138

सच बोलो, प्रिय बोलो, कटु सत्य मत बोलो। प्रिय झूठ न बोलो। यही सनातन धर्म है।

2. **तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।**
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।। मनु. 3/101

बैठने के लिए तिनके से बना आसन, स्थान, जल और चौथी मीठी वाणी– ये सज्जनों के घर में कभी भी नष्ट नहीं होती।

3. **प्रिय वाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।**
तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता।।

प्रिय वचन बोलने से सभी प्राणियों को प्रसन्नता प्राप्त होती है। अतः प्रिय वचन ही बोलने चाहिए। वचनों में क्या कंजूसी।

4. सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय सांच है, ताके हृदय आप॥

5. ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपहुं शीतल होय॥

6. कौआ किससे ले लेता है, कोयल किसको दे देती है।
केवल मीठे वचन सुनाकर, सबको वश में कर लेती है।

7. आवत ही हर्षे नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहां न जाइए, कंचन बरसे मेह॥

कठोर एवं मर्माहत करने वाले वचनों का परिणाम बहुत भयंकर होता है। घटना बहुत प्रसिद्ध है-

पाण्डवों ने बहुत सुन्दर भवन बनवाया। उसका फर्श इतना सुन्दर अलौकिक और आकर्षक था कि देखते ही बनता था। उस फर्श की बनावट ऐसी थी कि जहां फर्श पर पानी प्रतीत हो रहा था, वहां बिल्कुल सूखा था और जहां सूखा लग रहा था, वहां पर पानी था।

दुर्योधन जब इसे देखने आया तो फर्श पर पानी प्रतीत हो रहा था, वहां उसने धोती ऊपर कर ली। परन्तु फर्श सूखा होने के कारण उसे लज्जित होना पड़ा। जब आगे बढ़ा तो स्थान शुष्क लग रहा था परन्तु वहां पर वस्तुतः पानी था। इससे उसकी धोती भीग गई।

द्रौपदी यह देखकर हंस पड़ी और उसके मुंह से अनायास ही यह व्यंग्य बाण निकल गया- अन्धों के अन्धे ही हुआ करते हैं।

द्रौपदी के ये कटु शब्द दुर्योधन को चुभ गए और महाभारत के युद्ध का कारण बने। अतः ऐसी कटूक्तियों से बचना चाहिए।

इससे विदित होता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकार की हिंसा का सर्वथा सर्वदा परित्याग करना ही अहिंसा है अर्थात् सर्वतो भावेन वैर को छोड़कर सबसे प्रेम करना, सभी के प्रति कल्याण की कामना करना-

शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ यजु. 36/8

सभी दो पैर वाले मनुष्य, पक्षी आदि तथा चौपाए गौ आदि पशुओं का कल्याण हो।

स्वस्ति गोभ्यः॥ अथर्व:1।31।4

गौओ का कल्याण हो।

मे पाहि शंस्य पशून्॥ यजु. 3/37

हे प्रशंसनीय जन! मेरे पशुओं की रक्षा करो।

गौ को वेद में "अघ्न्या" अर्थात् अवध्य कहा गया है, जिसका अर्थ है– न मारने योग्य। यजु. 1।1

देखिए, गौ को वेद में अवध्य रूप में नमस्कार किया गया है।

रूपायाघ्न्ये ते नमः॥ अथर्व. 10।10।1

हे अघ्न्ये (अवध्य) गौ तेरे सुन्दर स्वरूप को प्रणाम है।

अघ्न्या इति गवां नाम क एतां हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वा लभेत तु यः॥

–महा. शान्ति. 262/47

श्रुति अर्थात् वेद में गौ को 'अघ्न्या' कहा गया है। ऐसी स्थिति में कौन उन्हें मारने का प्रयास करेगा? जो पुरुष गाय और बैलों को मारता है, वह महान् पाप करता है।

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्॥ अथर्व. 9/4/20

हमारे राष्ट्र में गौएं होवें, प्रजाएं हों और सभी में शारीरिक बल भी हो।

गवां यः पतिरघ्न्यः॥ अथर्व. 9/4/17

जो गौओं का स्वामी है, वह अहिंसक हो।

गां मा हिंसीः॥ यजु. 13/47

गाय को मत मारो।

इसी प्रकार भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, गधा आदि पशुओं को भी मारने का निषेध है। मा नो गोषु मा नोऽअश्वेषु रीरिषः॥ यजु. 16।16

हमारी गौओं के विषय में, हमारे घोड़ों के विषय में (गोऽजाव्यादिषु, तुरङ्गहस्त्युष्ट्रादिषु– द.) गौ, बकरी, भेड़ आदि तथा घोड़ा, हाथी, ऊंट आदि को हिंसित मत कीजिए।

मनुष्यों में कभी भी कुटिलता और हिंसक भावना नहीं आनी चाहिए। वेद कहता है–

माहिर्भूर्मा पृदाकुः॥ यजु. 8/23

हे मनुष्य! तू (मा अहिः भूः) सांप मत बन अर्थात् कभी कुटिलता का आश्रय मत ले और सांप की तरह डसने वाला मत बन। कभी कड़वे शब्द मत बोल। (मा

पृदाकुः) तू अजगर मत बन। जैसे अजगर बड़े-बड़े जीवों को भी निगल जाता है। वैसे ही तू भी दूसरों की धन-सम्पत्ति न हड़प ले।

प्रस्तुत मन्त्र में जहां सर्पवत् कदाचरण से रोका गया है, वहां अनेक सर्प-भक्त वेदमन्त्र द्वारा स्तुति भी करते हैं-

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के पृथिवीमनु।
ये अन्तरिक्षु ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ यजु. 13/6

अनेक सर्प भक्त नागपञ्चमी को सर्पदेव की पूजा करते हैं और दूध पिलाते हैं। उज्जैन में 'नाग मन्दिर' भी है। यहां नागपञ्चमी पर्व पर ज्योतिर्लिंग महाकाल में दुर्लभ मन्दिर श्री नागचन्द्रेश्वर महादेव के पट गुरुवार रात 12 बजे (27 जुलाई, 17) खुलेंगे। (दैनिक भास्कर, 27 जुलाई 17)।

इस प्रकार जहां सर्पों की पूजा की जाती है वहां इनसे होने वाली हानि से सावधान करते हुए इनको दूध पिलाने वालों की निन्दा भी की गई है।

पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्॥

सांपों को दूध पिलाना केवल उनका विष बढ़ाना है अर्थात् दूध पिलाने से लाभ कुछ नहीं अपितु हानि अधिक है।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखे। वस्तुतः यही धर्म का सार है-

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

हे मनुष्यों! धर्म का सर्वस्व, मुख्य तत्त्व अर्थात् सार सुनो और ध्यानपूर्वक सुनकर उसे धारण करो। वह यह है कि अपनी आत्मा के विपरीत दूसरे किसी के साथ भी आचरण मत करो अर्थात् जैसा अपने प्रति अच्छा व्यवहार चाहते हो, वैसा ही दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करो।

हम सभी का यह परम कर्त्तव्य है कि सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें-

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे॥ यजु. 36/18

वेद कहता है- सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखो-

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ यजु. 40/6

जो मनुष्य भूतों अर्थात् जड़ चेतन सृष्टि को आत्मतत्त्व में ही स्थित अनुभव

करता है तथा सभी भूतों के अन्दर इस आत्मतत्त्व को समाहित अनुभव करता है, वह आत्म दर्शन के कारण किसी से घृणा नहीं करता।

जब व्यक्ति के अन्दर ऐसी भावना आ जाती है, तो हमें समझ लेना चाहिए कि वास्तव में वही यथार्थ द्रष्टा है–

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।।

जो पुरुष अपनी आत्मा के समान समस्त प्राणियों में भावना रखता है, वस्तुतः वही देखता है।

योगिराज श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। गीता 6/29

सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकभाव से स्थिति रूप योग से युक्त हुए आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी अपनी आत्मा अर्थात् अपने आपको सम्पूर्ण भूतों में और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है।

मनु महाराज ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किए हैं–

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति।। मनु. 12।91

सब प्राणियों में परमात्मा को और परमात्मा में सब प्राणियों को समान भाव से देखता हुआ आत्मयज्ञ करने वाला स्वराज्य अर्थात् मुक्ति को पाता है।

कुल्लूक भट्ट के अनुसार–स्वाराज्यम्– स्वेन राजते प्रकाशते इति स्वराट् ब्रह्म तस्य भावः स्वराज्यं ब्रह्मत्वं लभते।

जब मनुष्य सारे प्राणियों को आत्मवत् देखने लग जाता है तो कोई पराया रह ही नहीं जाता। अतः वेद कहता है–

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।। ऋ. 6.65.24

मनुष्य मनुष्य की सब ओर से रक्षा करे।

महर्षि वाल्मीकि अत्यन्त संवेदनशील थे। सभी प्राणियों को आत्मवत् देखते थे। तभी तो क्रीड़ामग्न क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक (नर पक्षी) को शिकारी के द्वारा मार दिए जाने पर विलाप करती मादा पक्षी को देखकर वह द्रवित हो उठे और उनके मुंह से निकल गया–

मा निषाद त्वं प्रतिष्ठामगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। वा.रा.

हे निषाद! तू शाश्वत समय तक प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करेगा। क्योंकि तूने कामक्रीड़ा में अनुरक्त क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक का वध किया है।

यहां पर महर्षि वाल्मीकि में अहिंसा को आत्मसात् कर लेने का चरमोत्कर्ष द्रष्टव्य है। वह पक्षी के दु:ख को अपना दु:ख समझ लेते हैं।

महर्षि दयानन्द कहते हैं-

"उपकारक प्राणियों की हिंसा अर्थात् वैसे पशुओं को न मारें न मारने दें।" स.प्र. समु. 10

"हाथी, घोड़े, ऊंट, भेड, गदहे आदि से भी बड़े उपकार होते हैं। इन पशुओं को मारने वालों को सब मनुष्यों की हत्या करने वाले जानियेगा।" स.प्र. समु. 10

मांसाहारी भोजन क्योंकि हिंसा से प्राप्त होता है। अत: महर्षि कहते हैं-

"अहिंसा धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना भक्ष्य है।"

-स.प्र.समु. 10

मनु महाराज कहते हैं-

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते॥ मनु. 5।45

जो अपने सुख की इच्छा से निरपराध जीवों को मारता है, वह जीता हुआ भी मुर्दा है। क्योंकि जो दूसरे प्राणियों के दु:ख का अनुभव नहीं कर सकता, वह कहीं भी सुख नहीं पाता।

यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥ मनु. 5।46

जो प्राणियों को कैद करने, हिंसा करने (मारने) या पीड़ा देने की इच्छा नहीं करता, वह सबका हितचिन्तक है और वह अत्यधिक सुख को प्राप्त करता है।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ मनु. 5।48

प्राणियों की हिंसा किए बिना मांस कहीं नहीं मिलता और प्राणियों का वध स्वर्ग देने वाला नहीं है। अत: मांस को सर्वथा त्याग देना चाहिए।

समुत्पत्ति च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥ मनु. 5।49

मांस के पैदा होने की रीति, प्राणियों की हत्या तथा पीड़ा को देखकर सभी लोग मांस भक्षण से बच रहें।

इस सम्बन्ध में कबीर का कथन भी चिन्त्य है-

बकरी पाती खात है ताकी काढ़त खाल।
जो नर बकरी खात हैं ताके कौन हवाल॥

अतः हिंसा न करने में ही कल्याण है-

यद् ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन॥ मनु. 5।47

जो व्यक्ति किसी की हिंसा नहीं करता, वह सुगमता से ही वह सब प्राप्त कर लेता है, जिस पर वह ध्यान लगाता है। या जो काम करता है या जिसमें दृढ़ता से मन लगाता है।

घातक अथवा हत्यारा किसे कहते हैं? मनु महाराज इसका बहुत अच्छा विश्लेषण करते हुए कहते हैं-

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ मनु. 5/51

मारने की अनुमति देने वाला, अंगों को काट-काट कर अलग करने वाला, मारने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला तथा खाने वाला- ये आठ घातक अर्थात् हत्यारे हैं।

इसीलिए वेद में पशुओं की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है।

पशून् मे पाहि॥ यजु. 3/37

भगवन्! मेरे पशुओं की रक्षा करो।

यजमानस्य पशून् पाहि॥ यजु.1।1

हे परमात्मन्! यजमान के पशुओं की रक्षा करें।

मा मा हिंसीः॥ यजु. 3।63

आप मुझे हिंसित मत करें।

मैनं हिंसीः॥ यजु.4।1

इसकी हिंसा मत करें।

मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिम्॥ यजु. 12।60

यज्ञ की हिंसा मत करो अर्थात् यज्ञ का लोप मत करो। तुम्हारा यज्ञ निर्विघ्न और अविच्छिन्न बना रहे। अपवित्र पदार्थ डाल कर यज्ञ को अपवित्र न करो। यज्ञपति अर्थात् यज्ञकर्ता की हिंसा मत करो।

मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च।। अथर्व. 6।140।2,3

माता-पिता की हिंसा मत करो अर्थात् उन्हें मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार का कष्ट मत दो, पीड़ित मत करो।

एष मा हिंसीद् वेदः पृष्टः।। अथर्व. 7।54।2

यह पूछा गया वेद-ज्ञान मुझे हिंसित न करे अर्थात् दुःख न देखे।

कभी-कभी दिया गया उपदेश भी हानिकारक बन जाता है। जैसी कि एक कथा प्रचलित है-

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।।

एक बार की बात है। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। बया पक्षी अपने बच्चों के साथ घोसले में आराम से बैठा था।

एक बन्दर उसी पेड़ पर बैठा था जो भीग जाने से थर-थर कांप रहा था। यह देखकर बया पक्षी बोला-

आदमी जैसे हाथ-पांव आदमी जैसी काया।
फिर चार हाथ का अपना घर क्यों नहीं बनाया।।

इतना सुनकर बन्दर आग बबूला हो गया। वर्षा बन्द होते ही वह पक्षी का घोंसला तोड़ने के लिए उछला। अपनी ओर उछल कर आते बन्दर को देख कर पक्षी उड़ गए। बन्दर ने खिसिया कर घोंसले को उजाड़ दिया।

इसीलिए उपर्युक्त मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि पूछा गया वेदज्ञान कहीं हमारे लिए विपरीत अर्थ समझ कर दुःखदायी न बन जाए। अतः यह प्रार्थना सार्थक एवं औचित्यपूर्ण है।

हिंसा कितनी व्यवहार्य

हिंसा किसके लिए कितनी व्यवहार्य है? आइए, इस पर भी चिन्तन करें-

उल्लिखित पृष्ठों में वर्णित अहिंसा का पालन प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। चाहे वह साधु हो या संन्यासी, ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, कर्मचारी हो या अधिकारी, मजदूर हो अथवा उद्योगपति, राजा हो या रंक।

इतना होते हुए भी कुछ परिस्थितियां ऐसी भी होती हैं, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ (न्यूनाधिक) हिंसा अवश्य ही करता है अथवा करना पड़ता है अथवा समयानुसार करना ही चाहिए। यथा-

घर में कीड़े-मकोड़े, मक्खी-मच्छर, चींटी-चींटा, काक्रोच, पिस्सू, खटमल, चुहे, बिच्छू, सर्प, दीमक, घुन, कनखजूरा, मकड़ी, जुआं, चीलर, किलनी, कुएं-तालाबों

में उत्पन्न कीड़े, हानिकारक जीवजन्तु, घर में लगे पेड़-पौधों पर स्थित कीट-पतंगे, ततैया (डेमू, भूंड) आदि विभिन्न प्रकार के हानिकारक रोग-कृमियों को नष्ट कर देते हैं। अब तो अनेक प्रकार की कीटनाशक दवाईयां भी उपलब्ध हैं।

किसान खेतों में हानिकारक जीवजन्तु टिड्डी, तेला, सफेदमक्खी, मिलीबग सदृश कीटों की समाप्ति के लिए कीटनाशक औषधियों का प्रयोग करते हैं।

सरकारी अभियान- समय-समय पर सरकार द्वारा बीमारियों का फैलने से रोकने के लिए अभियान चलाए जाते हैं। घरों, गलियों, नालियों एवं अन्य संवेदनशील स्थानों पर दवाईयों का छिड़काव किया जाता है। जिससे रोगजनक कीटाणुओं, रोगाणुओं का नाश किया जा सके। विभिन्न प्रकार का टीकाकरण भी किया जाता है। डेंगू, चिकनगुनिया, मलेरिया की रोकथाम के लिए तो विशेष अभियान चलाए जाते हैं।

वेद भी एतादृश हानिकारक कृमियों के नाश का आदेश देता है।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि।।

अथर्व. 2।31।2

दिखाई पड़ते हुए और न दिखाई पड़ते हुए कृमियों को मैंने नष्ट कर दिया है। भूमि पर रेंगने वाले, बुरी तरह सताने वाले या भिनभिनाने वालों को मैंने नष्ट कर दिया है। सभी उपधानों (तकियों) में भरे हुए बड़े वेग से चलने वाले कीड़ों को वचन से मार डालो अर्थात् मारने का आदेश दो।

जैसे मनुष्य बड़े और छोटे क्षुद्र जन्तुओं को, जो अशुद्धि, मलिनता आदि से उतपन्न होकर बड़े-बड़े रोगों के कारण होते हैं- मार डालते हैं। इसी प्रकार अपने छोटे-बड़े दोषों का भी शीघ्र ही नाश करना चाहिए।

अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा
क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै।। अथर्व. 2।31।3

उपधानों (तकियों) में भरे हुए जन्तुओं को बड़ी चोट से मैं मारता हूँ। तपे हुए और बिना तपे हुए (पक्के और कच्चे कीड़े), नीरस (निर्बल) हो गए हैं। बचे हुए दुष्टों को वचन से नीचे डालकर मार डालूं। जिससे कीड़ों में से कोई भी बचा न रहे।

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि।। अथर्व. 2।31।4

आंतों में विद्यमान, शिर में रहने वाले और पसलियों के इन सब कीड़ों को, नीचे रेंगने वाले, छेद करने वाले अथवा यज्ञ का विरोध करने वाले सब कीड़ों को वचन मात्र से हम नाश करें।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वस्वन्तः।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्॥

अथर्व. 2।31।5

जो कीड़े पहाड़ों में, वनों में, अन्नादि ओषधियों, गौ आदि पशुओं में और जल के भीतर हैं तथा जो हमारे शरीर में प्रविष्ट हो गए हैं, उन सब क्रिमियों के जन्म को जड़ से ही नष्ट कर दूँ।

इसीलिए चिकनगुनिया, मलेरिया, डेंगू जैसी बीमारियों के जनक मच्छरों के लारवा को ही समाप्त करने का प्रयास किया जाता है।

अतः ऐसे हारिकारक जीवजन्तुओं को मारने के समय की गई हिंसा उचित मानी जाती है। इसमें ननुनच करने या मीनमेख निकालने की गुंजाइश नहीं।

शासन एवं प्रशासन के अधिकार क्षेत्र।

वन्य आवारा पागल अथवा खूंखार पशु होने के कारण उन्हें मारने का आदेश देना शासन एवं प्रशासन के अधिकार क्षेत्र में आता है। उसकी ओर से अधिकृत सक्षम व्यक्ति ही हिंसा कर सकते हैं। यथा–

एक बार बिहार सरकार ने किसानों की फसलों को हानि पहुंचाने के कारण 250 नीलगायों को आधिकारिक शूटरों के द्वारा मरवा दिया था। क्योंकि बड़े पशुओं को मारने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को नहीं है।

अनेक स्थानों पर फसल नष्ट करने वाली नीलगाएं स्वच्छन्दता पूर्वक दिन या रात में पूरे के पूरे खेत चर जाती हैं। जिससे किसानों की सारी मेहनत और लागत सब कुछ लुट जाती है। निराला के शब्दों में उसकी दशा 'भिक्षुक' सदृश हो जाती है–

वह आता, दो टूक कलेजे के करता, पछताता–पथ पर आता।

भला इससे अधिक दुर्दशा और क्या हो सकती है? मंशी प्रेमचन्द ने 'पूस की रात' कहानी में यही बात लिखी है– 'पूस की कंपकंपाती रात के चतुर्थ प्रहर में जैसे ही फसल की रखवाली करने वाले किसान की आंख लगी कि अचानक ही नीलगाएं आकर उसका सारा खेत चर गई' परन्तु अब पछताए होत क्या जब नीलगाएं चर गईं खेत।

प्रशासन ने किसानों को मुआवजा देने के लिए भला क्या कदम उठाएं हैं?

वन्य जीव संरक्षण से सम्बन्धित संस्थाएं क्या कर रही हैं? हानि पहुंचाने वाले पशुओं से बचाव के लिए भला किसानों को क्या अधिकार दिए गए हैं। क्या वे इन पशुओं की हिंसा कर सकते हैं? अथवा केवल रात भर जागते रहें? और जैसे ही थोड़ी आंख लगी कि फसल सफाचट! फिर किसान को वैसे ही नींद नहीं आयेगी। बस, आकाश के तारे गिनता रहे।

14 जुलाई, 2017 के दैनिक जागरण में प्रकाशित खबर से एक आशा की किरण अवश्य दिखाई दी–

"आवारा पशुओं से फसल बचाने को गोली चलाने की शार्ट टाइम मंजूरी"

राज्य ब्यूरो चण्डीगढ़। आवारा व जंगली जानवरों से फसलों को बचाने के लिए सरकार ने किसानों को 45 दिन के लिए शार्ट टाइम गोली चलाने के लाईसेंस देने की मंजूरी दे दी है। वन्य जीव बोर्ड के अफसरों के साथ हुई मुख्यमन्त्री की बैठक में यह मंजूरी दी गई।

मुख्यमन्त्री ने पशुपालन विभाग को सांडों की नसबन्दी करने की मंजूरी दे दी है। फसलों को नुकसान पहुंचाने वाले आवारा व जंगली पशुओं को गोली मारने के परमिट की प्रक्रिया ऑनलाइन करने के साथ इसको वाट्सएप पर उपलब्ध करवाने का भी फैसला किया गया है। यह परमिट सीमित शिकार के लिए जमीन के निजी मालिकों के लिए होंगे। इनका प्रयोग केवल पशुओं से फसलों के नुकसान को बचाने के लिए ही किया जा सकेगा।

परन्तु अगले ही दिन अर्थात् 15 जुलाई 2017 को ही मुख्य मन्त्री के फैसले को ग्रहण लग गया। जब विश्नोई समाज ने इसे वापस लेने की चेतावनी दी–

"पशुओं पर गोली नहीं चलाने देगा विश्नोई समाज" अबोहर–कैप्टन सरकार के नीलगाय व जंगली सुअरों को मारने के लिए फैसले पर विश्नोई समाज ने रोष जताया है। उन्होंने इस निर्णय को वापस लेने की चेतावनी देते हुए कहा कि वह इस निर्णय को किसी भी सूरत में लागू नहीं होने देंगे। विश्नोई समाज द्वारा इस सम्बन्ध में एक मांग पत्र भी एसडीएम के माध्यम से सरकार को भेजा गया है।

गहन विचार करने पर प्रतीत होता है कि विश्नोई समाज का विरोध वस्तुतः समाधान रहित, एकांगी और एक पक्षीय है क्योंकि विश्नोई समाज ने इस समस्या के समाधान के लिए वैकल्पिक व्यवस्था का कोई प्रारूप नहीं प्रस्तुत किया है। कितना अच्छा होता यदि विश्नोई समाज सरकार का कार्य सरल करते हुए वन्य पशुओं से बचाव के लिए सुझाव भी देता। साथ ही उसको व्यावहारिक रूप देने के लिए उसी प्रकार से आगे आता जैसे जीव रक्षा हेतु अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तत्पर है। उसका यह त्याग प्रशंसनीय है परन्तु है एकांगी और विचारणीय भी। आशा है वे

सभी श्रेष्ठजन इसे सर्वांग, सक्षम और सशक्त बनाने का उपाय सर्वजन हिताय अवश्य प्रस्तुत कर कृतार्थ करेंगे। इससे विश्नोई समाज की महत्ता, मान सम्मान, गौरव, सौहार्द एवं उदारता में और भी अभिवृद्धि होगी।

मेरी दृष्टि में विश्नोईसमाज का भी बहुत बड़ा वर्ग कृषि पर ही आश्रित है।इस स्थिति में क्या उन कृषकों के सम्मुख नीलगायों या सुअरों द्वारा फसल नष्ट किए जाने की समस्या नहीं आई या नहीं आती? यदि नहीं तो क्यों और कैसे? यदि हां तो उसका समाधान क्या था? साथ ही इस विषय पर उन कृषकों की क्या प्रतिक्रिया है? क्या इसे जानने का प्रयत्न किया गया? हो सकता है उच्चवर्गीय जमींदार इस हानि को सहन कर लें। परन्तु साधारण किसान का क्या बनेगा? जिसके पास सम्भवतः उतनी ही फसल हो जितनी वन्य पशुओं ने नष्ट कर दी।

अतः मेरा विश्नोई समाज के प्रबुद्ध शिक्षित वर्ग से विनम्र निवेदन है कि वह अपने हिंसारहित सिद्धान्त पक्ष की रक्षा हेतु तर्कसंगत, युक्तियुक्त स्वीकार्य समाधान अवश्य प्रस्तुत करे।

आवारा एवं वन्य पशुओं की समस्या का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इसके साथ ही एक अन्य समस्या है-

आवारा कुत्तों की बढ़ती समस्या

आवारा कुत्तों से बचाव के लिए सरकार की कोई नीति नहीं है। परिणामतः अनेक बाल-युवा- वृद्धों को अपनी जान गंवानी पड़ी है। इससे कई गुना अधिक घायल हो चुके हैं। प्रशासन मूकदर्शक बना हुआ है अथवा कुम्भकर्ण की नींद में सोया हुआ है।

स्थिति इतनी भयावह है कि मनुष्य चाहे अपनी जान गवां दे, परन्तु आवारा कुत्तों को हाथ लगाना भी आपत्तिजनक है। क्योंकि उस समय पशु संरक्षक तुरन्त उपस्थित हो जायेंगे। चाहिए तो यह कि प्रशासन स्वयं पागल, खूंखार और आतंक फैलाने वाले हारिकारक कुत्तों को मरवा दे। परन्तु प्रतीत यह हो रहा है कि मनुष्य से आवारा पागल कुत्ते की जान अधिक मूल्यवती है। परिणाम स्वरूप आप देखेंगे कि जहां मृत पशुओं की हड्डियां एकत्रित की जाती हैं, वे स्थल प्रायः खुले ही होते हैं और जहां पर आवारा कुत्तों के झुण्ड के झुण्ड फिरते रहते हैं और उस रास्ते से गुजरने वाले व्यक्तियों पर टूट पड़ते हैं। वे इतने खुंखार होते हैं जिनसे जान बचाने की कौन कहे, गंवानी पड़ जाती है। बच्चों की जान का खतरा बना ही रहता है। अस्पतालों में रेबीज़ के उपचार का पूर्णतः प्रबन्ध कहीं-कहीं ही होता है। समाचार पत्रों में आए दिन ऐसी घटनाओं का उल्लेख आता ही रहता है।

दैनिक जागरण 13 जुलाई 17 को प्रकाशित समाचार अत्यन्त चिन्तनीय है-

चण्डीगढ़- दिन प्रतिदिन आवारा कुत्तों के काटे जाने के बढ़ते जा रहे मामलों पर हाईकोर्ट ने अब पंजाब, हरियाणा और चण्डीगढ़ को इस मामले में विस्तृत नीति बनाए जाने के आदेश दे दिए हैं। इसके तहत कुत्ते के काटे जाने के बाद इलाज से लेकर मुआवजा और इनकी रोकथाम सभी उपायों को शामिल किए जाने के आदेश दिए हैं।.....

समाना में एक पांचवी कक्षा के 12 वर्षीय बच्चे को कुत्ते द्वारा काटे जाने के बाद हुई उसकी मृत्यु के मामले को हाईकोर्ट ने गंभीरता से लेते हुए पंजाब, हरियाणा, चण्डीगढ़ प्रशासन को यह आदेश दिए हैं।....

हाईकोर्ट ने कहा कि मामला बेहद गम्भीर है। रोज आवारा कुत्तों के काटने के काफी संख्या में केस सामने आ रहे हैं। अब हाईकोर्ट ने विस्तृत नीति बनाने के आदेश देते हुए सुनवाई 18 अगस्त तक स्थगित कर दी है।

अभी हाईकोर्ट की सुनवाई की स्याही सूखी भी नहीं थी कि दैनिक भास्कर 27 जुलाई 2017 के अनुसार गुरदासपुर में एक और घटना हो गई। जब बुधवार को गुरदासपुर के गांव अब्बुल खैर में कुछ आवारा कुत्तों ने एक चार साल की बच्ची को अपना शिकार बनाया।..... हालत गम्भीर..... अमृतसर रेफर।

इससे यही पता चलता है कि मनुष्य की जान सस्ती है और इन आवारा पशुओं की जान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तभी हमारा अहिंसकवर्ग भी शान्त है और शान्तभाव से घटनाओं का अध्ययन कर रहा है। कब तक अध्ययन करेगा? कहा नहीं जा सकता। बस, जारी है और प्रतीक्षा कीजिए ढाक के तीन पात की।

वानरों का उत्पात

अनेक स्थानों पर बन्दरों का उत्पात भी हानिकारक सिद्ध हो रहा है। यह भी झुण्डों में निकलते हैं और अपना आतंक फैलाते हैं। यहां तक कि घरों में घुस कर हानि पहुंचाते हैं। खाने-पीने का सामान तहस-नहस कर देते हैं। घर में लगे पेड़-पौधे उजाड़ देते हैं। रास्ते में आते-जाते व्यक्तियों के हाथ से थैला या अन्य खाने-पीने का सामान छीन लेते हैं।

हरिद्वार जैसे तीर्थ स्थान पर ये निर्भय होकर विचरते हैं, गुर्राते हैं और आंखे दिखाते हैं। देखते ही देखते सामान छीन कर चम्पत हो जाते हैं। हनुमान् के वंशज होने से कोई कुछ नहीं कर पाता।

आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर में तो बचाव के लिए कुटियाओं के बाहर और आंगन में जाली लगवा रखी है जिससे शान्तिपूर्वक बैठा जा सके। सरकार ने सुरक्षा के लिए कोई कदम नहीं उठाया। यदि कोई कदम उठाना भी चाहे तो वानरों

के रक्षक या सेवक अथवा भक्त अपना विरोध प्रकट करने या प्रदर्शन हेतु तुरन्त उपस्थित हो जाते हैं और सरकार भी हाथ मलती रह जाती है।

शास्त्र-आज्ञा

आइए, देखें- इस विषय में शास्त्र क्या कहते हैं-

जहां अहिंसा को परम धर्म कहा गया है, वहां जगत् को हानि पहुंचाने वाले प्राणियों को दण्ड देने का भी विधान है-

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु।। ऋ. 7।104।24

चोर, डाकू, लुटेरा चाहे पुरुष हो या स्त्री, उसे मार दो। सिर धड़ से अलग कर दो।

यदि शासक के लिए ऐसी व्यवस्था न हो तो चोर, डाकू, हत्यारे प्रजा का नाश करके अराजकता पैदा कर देंगे। अतः वेद कहता है-

प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टम् अरातयः।। यजु. 1/7

राक्षस स्वभाव वाले ओर लुटेरे मनुष्यों को नष्ट कर दो।

अव जहि यातुधानानव कृत्याकृत्यं जहि।। अथर्व. 5।14।2

पीड़ा देने वालों को मार डालो। हिंसा करने वाले का नाश कर दो।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा।। अथर्व. 1।17।4

यदि हमारी गाय को, घोड़े को, पुरुष को तू मारता है या मारेगा तो उस मारने वाले तुझको हम सीसे की गोली से मार देंगे। जिससे तू हमारे इन पशुओं और वीरों का नाश करने वाला न होवे।

लूट-खसोट करने वालों और दूसरों को पीड़ित करने वालों के प्रति कठोरता का व्यवहार करने का उपदेश है-

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र।।

ऋ. 7।104।22, अथर्व. 8।4।22

हे (इन्द्र) राजन्! उल्लू के समान झपटने वाले, भेड़िए के समान चालचलन वाले दुःखदायी, हिंसक, कुत्ते जैसा व्यवहार करने वाले- दुम हिलाने अथवा गुर्राने वाले, आपस में लड़ने-झगड़ने वाले, चक्रवाकों के समान कामी मदमस्त-दुष्कर्म

करने वाले, गिद्ध दृष्टि वाले अर्थात् लोभ में आकर पर सम्पत्ति हरने वाले उपद्रवियों, राक्षसों को मार दो जैसे शिला से मिट्टी के ढेले को कुचल देते हैं।

मनु महाराज कहते हैं-

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ मनु. 8।350

गुरु, बाल, वृद्ध, ब्राह्मण अथवा बहुत बड़े विद्वान् के रूप में इस आते हुए आततायी को बिना विचारे ही मार देना चाहिए। **नाततायीवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥** मनु. 8।35। आततायी के वध में हन्ता को कोई दोष नहीं होता।

परन्तु इसे पढ़कर कहीं ऐसा न हो जैसा कि आजकल के गो रक्षकों ने जनभक्षक बनकर कानून अपने हाथ में ले लिया जिसमें अनेक व्यक्तियों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा है। वस्तुतः गोरक्षकों को चाहिए था कि उन्हें पकड़ कर पुलिस के हवाले करते। इससे वे प्रशंसा के पात्र बनते।

किसी व्यक्ति को दण्ड देना शासन, प्रशासन, न्यायाधीश का काम है, जन साधारण का नहीं।

प्रशासक के लिए ऐसा कठोर दण्ड देने का औचित्य बताते हुए मनु महाराज कहते हैं-

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ मनु.7।10

दण्ड ही सारी प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, दण्ड ही सोए हुए लोगों में जागता है। अतः बुद्धिमान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ मनु. 7।19

जो दण्ड अच्छी प्रकार विचार से धारण किया जाय तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो बिना विचारे चलाया जाय तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है।

श्रीराम और श्रीकृष्ण अहिंसा के भक्त थे, परन्तु दुष्टों का संहार भी किया। श्रीराम ने विश्वामित्र के साथ जाकर यज्ञ की रक्षा की। विश्वामित्र ने उन्हें दुष्टदलन हेतु शस्त्रास्त्र का प्रशिक्षण भी दिया। यद्यपि वह स्वयं शत्रुओं का संहार कर सकते थे तथापि उन्होंने ऐसा नहीं किया क्योंकि वह हिंसारहित यज्ञ कर रहे थे। इसीलिए यज्ञ को 'अध्वर' भी कहते हैं-

ध्वरति हिंसाकर्म तत्प्रतिषेधः अध्वरः॥

जिस कर्म में हिंसा न हो, वह अध्वर है।

अतः शासकीय दृष्टि से यज्ञ की रक्षा हेतु श्री राम को साथ ले गए थे।

शासक, प्रशासक के लिए भी अहिंसा का पालन आवश्यक है परन्तु अपनी सीमाओं के अन्दर ही। जहां राष्ट्र की रक्षा, प्रजा का पालन, अभिवृद्धि राजा का कर्त्तव्य है, वहां शत्रुओं का संहार भी अत्यावश्यक है।

शत्रुओं के साथ कैसा व्यवहार किया जाय? इस विषय में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

मायाविनं तु राजानं माययैव निकृन्ततु।। महा. शल्य. 58/8

मायावी अर्थात् छली-कपटी राजा को माया अर्थात् छल-कपट के द्वारा ही नष्ट करो।

और भी देखिए-

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः तस्मिन् तथा वर्तितव्यः स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारो साधुना प्रत्युपेयः।।

-विदुरनीति

जो मनुष्य जैसा वर्ताव करता है, उससे वैसा ही वर्ताव करना चाहिए। छल-कपट का आचरण करने वाले व्यक्ति के साथ छल-कपट का व्यवहार करो। सदाचरण करने वाले मनुष्य के साथ सज्जनता का व्यवहार करो।

सीमातीत अहिंसा-पालन का दुष्परिणाम

महाभारत काल के पश्चात् बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध और जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर महावीर स्वामी ने अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया। यह दोनों महापुरुष राजघराने से सम्बन्धित थे। अतः तत्कालीन राजाओं पर इनके "अहिंसा परमो धर्मः" सिद्धान्त का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। राजा और प्रजा अधिकांशतः बौद्ध और जैन मत के अनुयायी बन गए। परिणाम स्वरूप सेना का महत्व घट गया। धीरे-धीरे मुगलों के लिए राज्य विस्तार का कार्य सरल होता गया। युद्ध में कड़ा मुकाबला अथवा प्रतीकार का सामना नहीं करना पड़ा। अतः मुगल साम्राज्य भारत में पूर्णतः स्थापित हो गया। मुगलों के बाद अंग्रेजी शासन की स्थापना हुई।

यह पराधीनता अतिरेक अहिंसा का ही दुष्परिणाम थी। क्योंकि भारतीयों में वीरता, युद्धकौशल, कूटनीति, राष्ट्ररक्षा की भावना का ह्रास होता गया। तत्कालीन राजा-महाराजा अहिंसा और देवी- देवताओं पर आश्रित हो गए। यह अहिंसा का ही चरमोत्कर्ष परिणाम था।

कलिंग युद्ध के भयावह परिणाम को देखकर सम्राट् अशोक को युद्ध से विरक्ति हो गयी। महात्मा बुद्ध के उपदेश से अशोक एवं परवर्ती राजा अहिंसावादी बन गए। अतः युद्ध से पराङ्मुख होना उनके लिए स्वाभाविक था। इसलिए अहिंसा की अति हानिकर सिद्ध हुई। अतः कहा भी है–

अति सर्वत्र वर्जयेत्॥

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥

दोनों ही महात्मा सत्यवादी अहिंसा के पोषक थे। राजाओं के अहिंसक हो जाने से सैन्य शक्ति अर्थात् क्षात्रधर्म का ह्रास हो गया। जिसके परिणाम स्वरूप भारत की पराधीनता का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

यथार्थतः अहिंसा किसके लिए कितनी व्यवहार्य?

यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर है और चिन्तनीय भी। अहिंसा के व्यवहार के लिए स्पष्टतः कोई विभाजकीय रेखा नहीं खींची जा सकती। यह तो व्यक्ति के कर्त्तव्य कर्म पर निर्भर करता है। यथा साधु-संन्यासी, राजा-प्रजा, अधिकारी-कर्मचारी, सेनापति सेना शत्रु, न्यायाधीश और आरोपी प्रत्यारोपी आदि।

साधु-संन्यासी अथवा एतादृश व्यक्तियों के लिए अहिंसा पूर्णतः व्यवहार्य है। उदाहरणतः–

संन्यासी होने के कारण महर्षि दयानन्द अहिंसा के पूर्णरूपेण समर्थक थे। परन्तु राजाओं के लिए क्षत्रिय धर्म के पोषक भी। जैसा कि उनके जीवन से प्रकट होता है–

एक दिन एक ब्राह्मण स्वामी जी के समीप आया। विनयपूर्वक नमस्कार करके उसने स्वामी जी के सामने पान निवेदन किया। महाराज ने सहज स्वभाव से वह पान मुख में रख लिया ।परन्तु उसका रस लेते ही जान गए कि यह विषयुक्त है। पर उन्होंने उस नराधम को कुछ कहा नहीं। वह वस्ती और न्योलीकर्म करने के लिए गंगा पर चले गए। देर तक क्रिया करके फिर आसन पर आ विराजे।

स्वामी जी को विष देने का भेद किसी प्रकार तहसीलदार महोदय को भी ज्ञात हो गया। स्वामी चरणों में श्रद्धा होने के कारण उसने तुरन्त उस पापी को पकड़ मंगवाया और बन्दगृह में डाल दिया। तत्पश्चात् स्वामी जी के दर्शनार्थ चला। मार्ग में प्रसन्नता से उसके हृदय में ये विचार उत्पन्न हो रहे थे कि आज मैंने स्वामी जी के शत्रु को दण्ड देकर बदला लिया है। इसलिए वह प्रफुल्लवदन आशीर्वाद देंगे। परन्तु वहां तो विपरीत असर पड़ा। स्वामी जी ने कहा– "मैं मनुष्यों को बंधवाने नहीं अपितु छुड़वाने आया हूँ। यदि दुष्ट अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ते तो हम क्यों

स्वश्रेष्ठता का परित्याग करें।"

ये शब्द सुनकर तहसीलदार रोमाञ्चित हो उठा। उसने क्षमा का ऐसा धनी, प्रशान्त पुरुष दूसरा न देखा था। वह महाराज को कर जोड़ नमस्कार करके चला गया। उसने जाते ही उस ब्राह्मण को स्वतन्त्र कर दिया।

स्वामी जी एक दिन प्रातः काल घूमने जा रहे थे। मार्ग में एक मनुष्य ने उन्हें बहुत ही कुवचन कहे। उसने यह भी कहा कि तू ईसाइयों का नौकर है। हमें कृष्टान्न बनाना चाहता है। महाराज उसकी अज्ञानलीला पर मुस्कराते ही रहे और घूम कर अपने आसन पर आ विराजे।

वही गाली देने वाला मनुष्य यह सोचकर कि अब दयानन्द को उसके स्थान पर जाकर चिढ़ायें, महाराज के समीप आया। स्वामी जी ने उसका "आइए बैठिए" इत्यादि शब्दों से स्वागत किया और मधुर वचनों से उसके वहां आने का कारण पूछा। वह मनुष्य, यद्यपि हृदय पाषाण समान कठोर रखता था, स्वामी जी को सताने आया था, परन्तु उनके कृपा भाव से वीतराग स्वभाव से, सुजनता के वर्ताव से उसका मन मोम हो गया। पश्चाताप के उद्रेक से उसका जी भर आया। श्रीचरणों को अपने अनर्गल अश्रुओं से सिंचन करके क्षमा की याचना करने लगा। स्वामी जी ने उसे ढाढ़स बंधाया और कहा- "शब्द आकाश में उत्पन्न होकर वहीं लय हो जाता है। इसलिए तुम्हारे वे वचन भी नष्ट हो गए हैं। वे मेरे पास नहीं हैं। उन्होंने मुझे

स्पर्श नहीं किया। इसी कारण उनसे मुझे यत्किंचित् भी दुःख नहीं हुआ।"

ऊपर प्रस्तुत की गई दोनों घटनाएं अग्रलिखित कसौटी पर पूर्णतः खरी उतरती हैं-

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ योग. 1।2।35

उन्होंने अहिंसा में पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठित हो जाने के कारण वैरभाव को सर्वथा त्याग दिया था।

अब अहिंसा की यथार्थता का एक और व्यवहार्य रूप प्रस्तुत है-

गंगा स्नान के मेले पर महर्षि दयानन्द कर्णवास पधारे। उस समय राव कर्णसिंह भी स्नानार्थ वहां आए थे। रात्रि में उनके निवास पर रास होने लगा। कुछ पण्डित स्वामी जी को भी बुलाने आए। परन्तु स्वामी जी ने कहा- "हम ऐसे निन्दनीय कार्य में कदापि सम्मिलित नहीं हो सकते। अपने महापुरुषों का स्वांग बनाना अति लज्जास्पद और शोचनीय बात है।"

अगले दिन पण्डितों ने स्वामी जी के कथन को नमक-मिर्च लगाकर राव कर्णसिंह को उत्तेजित किया। वे भी उत्तेजित होकर नौकर चाकरों सहित स्वामी जी

की कुटिया पर चढ़ आए। राव महाशय छड़ी से छेड़े हुए नाग की भांति कोपावेश में बल खा रहे थे। उसने स्वामी जी पर कुवचन की झड़ी सी लगा दी।

इतना होते हुए भी स्वामी जी हंसते हुए कहने लगे– "राव महाशय! यदि शास्त्रार्थ (शास्त्र चर्चा) करना अभीष्ट है तो वृन्दावन से अपने गुरु रंगाचार्य जी को यहां ले आइए। हम कटिबद्ध हैं और यदि शस्त्रार्थ (युद्ध) करने का चाव है तो संन्यासी से क्यों टकराते हो? जयपुर– जोधपुर से जा भिड़ो।"

फिर क्या था, राव जी आपे से बाहर हो गए। उनकी आंखों से चिनगारियां छूटने लगीं। होठ फड़क उठे। तलवार पर हाथ पहुंच गया। स्वामी जी की ओर लपके। स्वामी जी ने – "अरे धूर्त!" कहते हुए उन्हें हाथ से धकेल दिया। इससे राव एक बार तो लुढ़क गए। परन्तु फिर संभलकर चौगुने क्रोध से महाराज पर तलवार का वार करने के लिए आगे बढ़े। वे तलवार चलाना ही चाहते थे कि महाराज ने झपट कर तलवार छीन ली और उसके दो टुकड़े कर दिए।

स्वामी जी ने राव का हाथ पकड़ कर कहा– "क्या तुम चाहते हो कि मैं भी आततायी पर प्रहार कर बदला लूं? मैं संन्यासी हूँ। तुम्हारे किसी अत्याचार से चिढ़कर मैं तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन नहीं करुंगा। जाओ, ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे।"

महर्षि की अहिंसा का एक रूप यह भी है। अपनी शक्ति भी दिखाई। परन्तु संन्यासी होने के नाते उसका अनिष्ट भी नहीं चाहते थे। वरना उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में यह भी लिखा है–

नाततायी वधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।। मनु. 8।35

आततायी के वध में हन्ता का कोई दोष नहीं होता।

परन्तु यह संन्यासी का धर्म नहीं अपितु राजा अथवा राज्याधिकारी का धर्म है कि वह आततायी को दण्डित करे।

इस अहिंसा के अनुकरण से उनके जीवन में निखार आ गया है। अनायास ही हमारे मंह से निकल जाता है–

ऐ दयानन्द! तूने कर दिया कमाल।
सोई हुई मुर्दा जाति में जीवन दिया डाल।।

फड़कता–कड़कता उत्तर

महर्षि में अहिंसा कूट–कूट कर भरी हुई है। वह अहिंसा के अनन्य भक्त हैं। परन्तु उसकी सीमाओं का भी उन्हें ध्यान रहता है। यदि उनके सम्मुख कभी परिस्थितिवश हिंसा का अवसर आता भी है तो वह स्वयं तलवार नहीं खींच लेते

और न ही कानून अपने हाथ में ले लेते हैं अपितु रक्षा के लिए वह क्षत्रियों की ओर संकेत करते हैं। जरा ध्यान से देखिए-

(क) जोधपुर में महर्षि दयानन्द ने मुसलमान मत पर समालोचनात्मक भाषण दिया। उसको सुनकर भैया फैजुल्ला खां के तन-बदन में आग लग गई। वे बहुत ही चिढ़कर बोले- "स्वामी जी! यदि मुसलमानों का राज्य होता तो आपको लोग जीवित- जागृत न छोड़ते। उस समय आप ऐसे भाषण न कर पाते।"

स्वामी जी ने खां महाशय को बड़ी धीरता से उत्तर दिया-"यदि ऐसा अवसर आता तो मैं भी कभी थर-थराहट में न आता और निठल्ला न बैठता। किन्तु निधड़क मन से दो चार वीर राजपूतों की पीठ ठोक कर विरोधियों के धुर्रे उड़ा देता। ऐसा छकाता कि छक्के छूट जाते।"

महाराज के इस कड़कदार उत्तर से खां महाशय सटपटा उठे।

(ख) महाराज के भाषण में एक दिन एक मुसलमान युवक सहसा झिड़झिड़ा कर उठ खड़ा हुआ। एक हाथ तलवार की मुट्ठी पर रख झुंझला कर बोला- "आप मुंह संभाल कर बोलें। हमारे मत के विषय में कुछ भी न कहें।"

स्वामी जी ने अति कोमलता से उस युवक को कहा- "सौम्य! आपके अभी दूध के दांत हैं। संसार के उतार-चढ़ाव का आपको कुछ भी अनुभव नहीं। आप तो कोरे खड्ग को हाथ में थामने वाले हो। उसे कोश से निकाल नहीं सकते। भला, चना भड़केगा तो क्या भाड़ फोड़ डालेगा? यदि हम ऐसी थोथी झिड़का-झिड़की से झिझकने लगते तो इतना बड़ा बोझ कैसे उठा सकते?"

वह युवक थरथराता हुआ बैठ गया और इतना लज्जित हुआ कि फिर सिर ऊपर को न उठा सका।

क्षत्रियों के लिए अहिंसा

क्षत्रियों (सैनिकों) के लिए राष्ट्ररक्षा सर्वोपरि है। अतः सैनिक अपना बलिदान देने के लिए सर्वदा तत्पर रहते हैं। शत्रुओं का संहार करना और राज्य की रक्षा करना क्षत्रियों का परम कर्त्तव्य है। शत्रुओं को समाप्त कर देना हिंसा नहीं अपितु अहिंसा ही है। वस्तुतः क्षत्रियों का धर्म ही युद्ध करना है अतः उससे डरना नहीं चाहिए।

योगिराज श्रीकृष्णे कहते हैं-

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।। गीता 2/3

क्षत्रिय होने के नाते अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं है। क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याण कारक कर्त्तव्य क्षत्रिय के

लिए नहीं है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। गीता 2।37

इससे युद्ध करना तेरे लिए सब प्रकार से अच्छा है क्योंकि या तो तू मरकर स्वर्ग को प्राप्त करेगा अथवा जीतकर पृथिवी के राज्य को भोगेगा। अतः हे अर्जुन! तू निश्चय पूर्वक युद्ध के लिए उठ खड़ा हो।

मनु महाराज के शब्दों में महर्षि कहते हैं-

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्। मनु. 7।87

जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को कोई अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे तो क्षत्रियों के धर्म का अनुसरण करके, संग्राम से कभी निवृत्त न हो अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपना विजय हो।

जब संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग; जितना अपना सामर्थ्य हो विना डर, पीठ न दिखा, युद्ध करते हैं, वे सुख को प्राप्त होते हैं, इससे विमुख कभी न हो, किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने से छिप जाना उचित है। क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके, वैसे काम करें। जैसे सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें। स.प्र. समु. 6, पृष्ठ-125

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधर्मः सनातनः।
अस्माद् धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून्।। मनु. 7।98

यह अनिन्दनीय सनातन युद्ध का धर्म कहा गया। रण में शत्रुओं को मारता हुआ क्षत्रिय इस धर्म से न गिरे। वर्तमान समय में वे सभी व्यक्ति क्षत्रिय ही हैं जो सेना में सैनिक रूप में कार्यरत हैं। वे चाहे हिन्दु हों, मुसलमान, सिक्ख या ईसाई हों, सभी सैनिक क्षत्रिय हैं। प्राचीन नाम क्षत्रिय और आधुनिक नाम सैनिक है।

महर्षि दयानन्द युद्ध के विषय में कहते हैं-

"क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि जो राजपुरुषों में युद्ध के समय में भी चौका लगा कर रसोई बना के खाना अवश्य पराजय का हेतु है? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है।" स.प्र.समु. 10, पृ. 220

"देखो! महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे।" स.प्र.समु. 10, पृ.221

"आवश्यक युद्धादि कर्मों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठे वा खड़े-खड़े भी खाना अत्यन्त उचित है।" स.प्र. समु. 10.पृ. 224

पशु हिंसा और अहिंसा पर किए गए प्रश्न उत्तर को भी देखिए-

प्रश्न- जो सभी अहिंसक हो जाएं तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जाएं कि सब गाय आदि पशुओं को मार खाएं।

उत्तर- यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों, उनको दण्ड देवें और प्राण भी वियुक्त कर दें। स.प्र. समु. 10, पृ.222

प्रश्न- पशुओं को मारके होम करने से यजमान और पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

उत्तर- घोड़े, गाय आदि पशु तथा मनुष्य मार के होम करना कहीं नहीं लिखा।.... जो स्वर्ग जाते हों तो ऐसी बात लिखने वाले को मार, होमकर, स्वर्ग में पहुंचाना चाहिए या उसके प्रिय माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि को मार, होमकर स्वर्ग क्यों नहीं पहुंचाते? वेदी में से पुनः क्यों नही जिलाते? स.प्र. समु. 11 पृ. 235, 236

"पशु मारके होम करना वेद में कहीं नहीं है।" स.प्र.समु.12, पृ. 333

महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं-

"जो न्याय से राज्य का पालन करना है, वही क्षत्रियों का 'अश्वमेध' कहाता है। किन्तु घोड़े को मारके उसके अंगों का होम करना, यह अश्वमेध नहीं है।"

जिस देश में युद्ध को चाहने वाला, निर्भय, शस्त्र-अस्त्र चलाने में अति चतुर, और जिसका रथ पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने वाला हो, ऐसा राजा होता है, वहां भय और दुःख नहीं होते। ऋ. भा.भू., राजा प्रजा., पृष्ठ 272

महर्षि अहिंसा मूलक शान्ति तो चाहते हैं परन्तु राष्ट्र रक्षा एवं शत्रु के विनाश के लिए सभी प्रकार से शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहने के लिए भी कहते हैं। जैसा कि अग्रलिखित मन्त्र से विदित है-

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ ऋ.1।39।2

हे राजपुरुषो! तुम्हारे आयुध अर्थात् आग्नेयास्त्र 'शतघ्नी' तोप, 'भुशुण्डी' बन्दूक, धनुष-बाण आदि, 'असि' तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं को पराजय करने और रोकने के लिए प्रशंसित और दृढ़ हों। तुम्हारी सेना प्रशंसनीय होवे कि जिससे तुम सदा विजयी हो, परन्तु जो निन्दित अन्याय रूप काम करता है, उसके लिए पूर्व चीजें

न हों।

उपर्युक्त प्रमाणों से विदित होता है-

यदि महर्षि दयानन्द के दाहिने हाथ में अहिंसा है तो बाएं हाथ में अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा के निर्देश। आखिर शक्ति का सन्तुलन भी तो तभी रह सकता है।

एक हाथ में शास्त्र है तो दूसरे हाथ में शस्त्र। वस्तुतः महर्षि दयानन्द महर्षि परशुराम के साक्षात् अवतार प्रतीत हो रहे हैं। क्योंकि परशुराम में दोनों गुण थे- ब्राह्मण के भी और क्षत्रिय के भी-

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरो धनुः।
इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं शास्त्रादपि शरादपि॥

आगे अर्थात् सम्मुख चारों वेद हैं, पीछे शस्त्र हैं। यह ब्रह्मत्व के रूप में शास्त्र हैं और क्षत्रियत्व के रूप में शस्त्र हैं।

राष्ट्र की रक्षा, आत्मोन्नति एवं विकास के लिए शास्त्र और शस्त्र का कैसा सुन्दर समन्वय है?

अहिंसा के ध्वजवाहक राष्ट्रपिता महात्मा गांधी आधुनिक काल में सत्य और अहिंसा के सर्वोच्च सन्देशवाहक थे। इन पर उनका अटूट विश्वास था। स्वाधीनता संग्राम में यही दोनों उनके शस्त्रास्त्र थे। सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन सत्य और अहिंसा पर ही आधारित थे। अहिंसा के कारण उनका स्वाधीनता आन्दोलन धीरे-धीरे जन आन्दोलन बन गया। इससे जन साधारण में भी नवजागृति आ गई और जनता उनके पीछे चल पड़ी। कवि के शब्दों में-

चल पड़े जिधर दो डग, मग में,
चल पड़े कोटि पग उसी ओर।

कई बार हिंसक घटनाएं होने के कारण उन्हें अपना आन्दोलन वापस भी लेना पड़ा। इतना होते हुए भी वह अपने कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर रहे। वह अंग्रेज सरकार का कोप भाजन भी बने। अनेक बार कारगार गए। अंगेजों के द्वारा अपमानित एवं प्रताड़ित भी होना पड़ा। इतना होने पर भी हताश न होकर अविचलित रहे।

स्वाधीनता प्राप्ति के लिए उस समय नरम दल और गरम दल ये दो मार्ग थे। महात्मा गांधी ने नरम दल की विचारधारा को प्राथमिकता दी। इसके विपरीत नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने गरम दल की विचारधारा का अनुकरण किया। दोनों का लक्ष्य एक परन्तु मार्ग अलग- अलग।

यदि हम गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता हेतु यह

नरम दल और गरम दल दोनों ही लाभकारी सिद्ध हुए। एक ने अहिंसा के बल पर जन आन्दोलन चला कर चेतना उत्पन्न की तो दूसरे ने सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा शत्रु पर दुष्कर प्रहार किया। नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने तो आजाद हिन्द फौज का गठन कर शत्रु के छक्के छुड़ा दिये थे। इन दोनों पाटों के बीच में दब कर शत्रु को अपना बोरिया बिस्तर गोल करना पड़ा था।

महात्मा गांधी के सत्य और अंहिसा के सिद्धान्त ने केवल भारत में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में ख्याति प्राप्त की। विश्व के अनेक नेता इससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। अफ्रीका में भी गांधी जी ने इसी सिद्धान्त को अपनाया था। सीमान्त गांधी के नाम से प्रसिद्ध अब्दुल गफ्फार खां महात्मा गांधी के अनन्य भक्त थे। नेल्सन मंडेला भी गांधी जी के प्रति असीम श्रद्धाभाव रखते थे। गांधी जी के सिद्धांत के आधार पर ही उन्होंने अपना आन्दोलन चलाया था।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की कीर्ति अक्षुण्ण है। यद्यपि आज वह हमारे मध्य में नहीं है तथापि उनका सत्य-अहिंसा का सिद्धान्त हमारे लिए कीर्ति स्तम्भ है-

यस्य कीर्तिः स जीवति॥

आप विस्मृत नहीं विश्वास हैं, सम्मुख नहीं पर पास हैं।
जिंदगी के हर तिमिर में, आप ही तो प्रकाश है॥

अहिंसा की महत्ता को स्वीकार करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O) द्वारा 02 अक्टूबर, 2008 से ही 02 अक्टूबर को 'अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस' के रूप में मनाने को मान्यता प्रदान की गई है।

अतः महात्मा गांधी की जयन्ती 02 अक्टूबर, 2019 को "अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस" के रूप में मनाते हुए उन्हें हार्दिक श्रद्धाञ्जलि! करबद्ध कोटिशः नमन!

अहिंसासंदेशवाहकस्य स्मृतिशेषोऽद्य गांधिनः।
यशोगानं क्रियते सर्वैः पुण्यात्मन् नमोऽस्तु ते॥

अहिंसा के सन्देशवाहक महात्मा गांधी की आज केवल स्मृतियां ही शेष हैं। आज इस जयन्ती के उपलक्ष्य में सभी लोग उनकी यशोगाथा का गान करते हैं। हे पुण्यात्मन्! आपको हम सभी का बार-बार नमन है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (50-59) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

वेदों में व्यक्तित्व की संकल्पना

-डॉ. अंजू कुमारी
पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

(क) वेदों में व्यक्तित्व की अवधारणा

पाश्चात्य दर्शन में प्राय: बौद्धिक चिंतन की प्रधानता दृष्टिगत होती है। यद्यपि कुछ पाश्चात्य विद्वान् परोक्ष रूप से उसकी महत्ता स्वीकार करते हैं। भारतीय विचारधारा में अपरोक्षानुभूति या आत्मसाक्षात्कार की प्रधानता तथा बौद्धिक चिंतन गौण माना जाता है। वैदिक दर्शन का उद्घोष है- "आत्मा को जानो" (**आत्मानं विद्धि**)। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के दु:खों का आत्यन्तिक नाश एवं अखण्ड आनन्द की प्राप्ति, यही वैदिक दर्शन का लक्ष्य है। वेद- ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की सत्ता को मानता है।[1] वेदों में अनेक सूक्तों एवं मन्त्रों से व्यक्तित्व की अवधारणा की पुष्टि होती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्फुटन आत्मतत्व से होता है। आत्मतत्त्व स्वत: सिद्ध व स्व प्रकाशमान है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा का अनुभव होता है। जब वह यह कहता है कि 'मैं हूँ', 'मैं खाता हूँ', 'मैं देखता हूँ', 'मैं सुख-दु:ख का अनुभव करता हूँ'। तब इसकी स्वयमेव पुष्टि हो जाती है। उस अनुभव करने वाले के 'आत्मा, जीव, शरीरी, देही, भोक्ता' आदि अनेक नाम हैं। जीवात्मा सब अनुभूतियों का केन्द्र है। वह साधक है, शरीर आदि उसके साधन हैं। यह हमारा व्यक्तिनिष्ठ जीवात्मा शुद्ध आत्मतत्त्व नहीं है। यह सत्- असत् का मिथुनीकरण है। चेतन और जड़ की ग्रन्थि है। जीव अविद्या जन्य है। 'शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि, अन्त:करण' ये सब अविद्या के कार्य हैं और भौतिक है। ये सब जीवात्मा को घेरे रहते हैं तथा उसे व्यक्तिनिष्ठ जीव बना देते हैं। जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व की परिकल्पना की जाती है। इस वेद मन्त्र में आत्मा की इसी लिप्तता का वर्णन यों किया गया है। "जिस सुन्दर पत्तों वाले वृक्ष पर अर्थात् नाना प्रकार के पदार्थों से सुशोभित संसार में आत्मा इन्द्रियों की सहायता से विविध विषयों का रस पान करती है। उस समय हमारी इन्द्रियों आदि का अधिष्ठाता तथा प्राणरूप से पालन करने वाला आत्मा प्राचीन संस्कारों या कर्मों के

---

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। ऋ० 1/164/20

अनुसार इस संसार में अनेक कामनाएँ करता है।[1] यह शरीर रूपी रथ आत्मा का घर है। यथा– हे बालक! जो तुम्हें अपने प्राचीन संस्कारों के अनुसार यह सुन्दर मानव शरीर मिला है और जिसकी अच्छे–बुरे ऊँचे–नीचे जाने की शक्ति है। उस शरीर रूपी रथ का तुम बुद्धि पूर्वक संचालन नहीं कर रहे, तुम्हें उसका बुद्धिपूर्वक संचालन करना चाहिए। इस प्रकार इस मन्त्र में शिष्य को विद्याध्ययन की प्रेरणा दी है।[2]

अथर्ववेद के स्कम्भसूक्त[3] का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि परमात्मा की व्यापकता का आत्मा से अभिन्नता का सिद्धान्त वहाँ मान्य है। ब्रह्म जगत् का आधार (स्कम्भ) है। ऋग्वेद के नासदीय 10/129 सूक्त से सृष्टि उत्पत्ति विषय में भोग्य प्रकृति की अपेक्षा भोक्ता जीव का महत्व प्रकट किया गया है। यथा– परमात्मा की सृष्टि उत्पत्ति को कामना करने के अनन्तर जगत् में दिखाई देने वाले पदार्थों की किरण तिरछी फैल गई, किरणें नीचे भी हो गई और ऊपर भी हो गई अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के उदित होते ही उसकी किरणें तत्क्षण सर्वत्र ऊपर–नीचे फैल जाती हैं; उसी प्रकार यह कार्य जगत् सर्वत्र ऊपर नीचे फैल गया। उन उत्पन्न कार्य पदार्थों में कुछ तो बीज रूप कर्मों को धारण करने वाले भोक्ता जीव थे और कुछ पृथ्वी, चन्द्र, सूर्यादि बड़े महिमाशाली भोग्य पदार्थ भी थे। परन्तु इन भोक्ता और भोग्य पदार्थों में से यह भोग्य प्रपञ्च नीचे था अर्थात् निम्न स्थिति का था और प्रयत्नशील जीव ऊपर था अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति में था। इस प्रकार भोग्य प्रकृति की अपेक्षा भोक्ता जीवन का महत्व अधिक था।[4]

वेद में शरीर–विज्ञान की अवधारणा

इसी प्रकार पुरुष सूक्त में पुरुष रूप में परमात्मा का वर्णन करते हुए समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की अवधारणा प्रतिष्ठित की गई।[5] वेदों में पुरुष, मनु, मनुष्य अथवा जीव की अवधारणा के साथ ही व्यक्तित्व की अवधारणा भी सुनिश्चित हो गई थी। व्यक्ति का शरीर जो कि समस्त क्रियाकलापों का कर्त्ता है,

---

1. यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः।
   अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति।। ऋग्वेद – 10/135/1
2. यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसा कृणोः।
   एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधितिष्ठसि।। ऋ०–10/135/3
3. अथर्व० 10/6–8 सूक्त
4. तिरश्चिनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
   रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।। ऋ० 10/129/5
5. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
   ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।। यजु० 31/11

उसकी अवधारणा का अद्भुत वर्णन करते हुए कहा गया है कि "अहो, किस विलक्षण कारीगर ने इस मानव शरीर में एड़ियाँ बनाई हैं, किसने मांस भरा है, किसने टखने बनाए हैं, किसने पौरूओं वाली अंगुलियाँ बनाई हैं, किसने इन्द्रियों के छिद्र बनाए हैं, किसने तलवे और किसने मध्य का आधार बनाया है? किस उपादान कारण से लेकर इस शरीर में नीचे टखने और उसके ऊपर घुटने बनाये गए हैं, जाँघे जोड़ी गई हैं, दोनों घुटनों के जोड़ रचे गए हैं? घुटनों से ऊपर का यह धड़, जिसके चारों सिरों पर दो भुजा और दो जाँघों के चार जोड़ हैं, ऐसा किस कारीगर ने बनया है? किसने कूल्हे बनाए हैं जहाँ दोनों जाँघों की हड्डियाँ जुड़ी हैं? अहो! किसने और कौन से कारीगर थे वे जिन्होंने मनुष्य की छाती और गर्दन बनाई, स्तन बनाए, कपोल बनाए, कन्धे बनाए, पसलियाँ बनाई? किस कारीगर ने वीरता के कार्य करने के लिए इसकी दोनों भुजाएँ बनाई हैं? किसने दोनों कन्धों को शरीर के साथ जोड़ा है? किसने इसके दो कान रचे हैं, दो नाक के छेद रचे हैं, दो आँखें रची है, मुख रचा है? सिर के ये सहस्त्रों छेद किसने रचे हैं? किसने दोनों जबड़ों के बीच में ये जिह्वा रची है, जिससे यह वाणी बोलती है? कौन सा वह कारीगर है, जिसने इसका मस्तिष्क बनाया है, ललाट बनाया है, कपाल बनाया है? किसने इसके दोनों जबड़ों में श्रृंखला बद्ध दांत जड़े हैं? किसने इस शरीर में रक्त भरा है? जो लाल-नील रूप धारण कर हृदय सिंधु से आता-जाता है और ऊपर-नीचे, इधर-उधर सभी ओर प्रवाहित होता है? किसने शरीर के रूप भरा है? किसने इसमें नाम और महिमा निहित की है? किसने प्रणति, ज्ञान और चरित्र को पैदा किया है? किसने इसमें प्राण-अपान का ताना-बाना किया है? किस देव ने इसमें समान को निहित किया है? किसने शरीर के ऊपर त्वचा का कवच पहनाया है, किसने इसकी आयु रची है?, किसने इसे बल प्रदान किया है, किसने इसे वेग दिया है? किसने इसमें रेतस् भरा है, जिससे यह प्रजातन्तु का विस्तार करता है? किसने इसमें बुद्धि पैदा की है, किसने इसे वाणी और नृत्य कला दी है?[1]

देह में जीव का प्रवेश

इस प्रकार केन (किसने) के द्वारा शरीर की अद्भुत कृति का वर्णन वेद ने किया है। ऐसे इस शरीर में जीव ने कैसे प्रवेश किया, उसके लिए कहा गया है कि "जैसे गौए अपने घर में बैठती हैं, वैसे ही इन्द्रिय गण अपने भोगाश्रय शरीर में बैठ जाती है और जैसे पक्षी घोंसले में आकर बैठता है, वैसे यह जीवात्मा अपने वासस्थान देह को प्राप्त कर लेता है और देह में पौरू वाले अंगों में स्थित हड्डियाँ भी ठीक

1. अथर्ववेद - केनसूक्त 10/2/1-17 तक

स्थान पर स्थिर हो जाती है और ठीक स्थान पर मैं (परमेश्वर) जीव के शरीर में गुर्दे आदि अंगों को स्थापित करता हूँ।"[1]

वैदिक दृष्टि से यदि देखे तो यह मानव शरीर केवल एक मल-मूत्र का चोला नहीं है, अपितु यह एक देवपुरी है। यह ऐसी देवपुरी है जिसका सदुपयोग करने से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को दिव्य बना सकता है तथा यज्ञमय बना सकता है तथा ऋषितुल्य बना सकता है। इस हृदयहारिणी, यशोमयी, अपराजिता, स्वर्णिम देवपुरी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "यह मानव शरीर देवपुरी अयोध्या है। जिसमें आठ चक्र, नौ द्वार हैं। इस पुरी के अन्दर एक ज्योति से आवृत्त हिरण्यय कोश के अन्दर एक यक्ष वास करता है, जिसे वे जानते हैं, जो ब्रह्मविद् है। मानव आत्मा का सौभाग्य है कि देवताओं की यह पुरी उसे रहने के लिए मिली है।"[2] श्रीमद्भगवद् गीता के अनुसार भी यह शरीर स्वर्ग का द्वार है। मनुष्य ही अपने कुकृत्यों से इसे नरक की पुरी बनाता है।[3]

वेद कहता है कि यह शरीर यज्ञस्थली है। यह विषय-भोगमयी स्थली नहीं; अपितु यह पवित्र यज्ञग्रह है। दान-परोपकार आदि कार्य यज्ञ ही हैं।[4] यजुर्वेद इस शरीर को ऋषिभूमि भी कहता है। यथा इस शरीर में सात ऋषि बैठे हैं। वे सातों बिना प्रमाद किए इस शरीर की रक्षा कर रहे हैं। जब यह शरीर सोता है तब ये आत्मलोक में चले जाते हैं परन्तु दो देव ऐसे हैं (आत्मा और प्राण) जो उस समय भी शरीर में जागते रहते हैं।[5] वेद में इस शरीर को रथ भी कहते हैं। कहा गया है कि यह शरीर इन्द्र का रथ है जिसमें चार युग हैं, तीन कशाएं (चाबुक) हैं, प्रातःकाल साफ सुथरा और नया करके इसे जोता जाता है, सदिच्छाओं और बुद्धि से उसे चलाया जाता है।[6]

---

1. असदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः।
   आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम्।। अथर्व० 7/96/1
2. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
   तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।
   तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
   तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।। अथर्व० 10/2/31-32
3. अनेक चित्तविभ्रान्ता मोहजाल समाव्रताः।
   प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।। गीता 16/14
4. अथर्व० 10/2/14, अथर्व० 11/8/29, यजु० 34/4
5. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
   सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।। यजु० 34/55
6. प्रातारथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
   दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत।। ऋग्वेद - 2/18/1

इस प्रकार वेद में इस शरीर को देवपुरी, यज्ञस्थली, ऋषिभूमि और रथ से उपमित किया गया है। ऐसे इस शरीर को पाकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को दिव्य, ऋषि तुल्य बना सकता है। इस सर्वश्रेष्ठ मानव देह को पाकर मनुष्य सर्वश्रेष्ठ बने, यही वेदों में कामना की गई है। इसलिए कहा गया है कि "एक भूखण्ड को ही नहीं अपितु समस्त भूमण्डल को श्रेष्ठ व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों का स्थान बनाओ।"[1] ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में दिव्य व्यक्तित्व की अवधारणा स्पष्ट की गई है। यथा– हे मनुष्य! तू अपने जीवन तन्तु का विस्तार करता हुआ लोकमात्र के प्रकाशक को प्राप्त हो। इसके लिए तू बुद्धि से निष्पादित ज्योतिष्मान् मार्गों की रक्षा कर। स्तुति शब्द करने वाले विद्वानों के उलझन रहित कर्मरूप वस्त्र को बुन। तू मनु अर्थात् मननशील मनुष्य बन। तू अपने को देवश्रेणी का मनुष्य बना।[2] अपने को उत्कृष्ट व्यक्तित्व का धनी बना। वस्तुतः मनुष्य अच्छे कर्मों का ताना बुनकर व ज्ञान का बाना डालकर अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बना सकता है।

इस प्रकार यह मन्त्र मानव मूल्यों का सार है। मनुष्य का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व को दिव्य बनाना है, देवश्रेणी का बनाना है। दिव्य, देव या व्यक्तित्व का धनी वह है जो अपने व्यक्तित्व से, अपने जीवन से दूसरों को भी उत्कृष्ट बना दे। तेजस्वी बना दे। दानशील बना दे। उपकारी बना दे। जो अपने लिए न सोचकर दूसरों के उत्थान के लिए सोचे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय का मार्ग चुने। अकर्मण्यता का मार्ग छोड़कर कर्म का मार्ग चुने। इसलिए कहा गया है कि "कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा कर।"[3] अच्छे कर्मों से ही अच्छा व्यक्तित्व बनता है।

आत्म तत्त्व व मन का महत्व

व्यक्तित्व निर्माण में आवश्यक तत्त्वों की अवधारणा को भी वेदों में कहा गया है कि "यह आत्मा श्रेष्ठ है, जीवन रूपी यज्ञ की संचालक है। यह मरणधर्मा शरीर की अमर ज्योति है। यह आत्मा शरीर में प्रकट होकर, स्थिर होकर, उसमें बैठा है और शरीर की वृद्धि के साथ बढ़ रहा है। यह अच्छे कर्मों से महिमान्वित हो रहा है।[4]

---

1. कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। ऋ० 9/63/5
2. तन्तुं तन्वन् रजसो भानु नन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्। अनुल्बणं वयत् जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। ऋग्वेद 10/53/6
3. कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविषेच्छतं समाः।
   एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। ईशो० 2 (यजु०अ० 40)
4. अयं होता प्रथमः पश्यते मम् इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
   अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषतोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः।। ऋ० 6/9/4

व्यक्तित्व की अवधारणा में जहाँ आत्मतत्त्व का अपना महत्त्व है, वहीं मन का भी इसमें अपना अद्‌भुत योग है। यथा– "देखने के लिए, ज्ञान प्राप्ति के लिए सब मनुष्यों के अन्दर एक अन्य ध्रुववेगवत्तमं ज्योति निहित है, जिसे मन कहते हैं। इस मन के साथ ही 'संमना' होकर दिव्य जन किसी बड़े संकल्प क्रतु को, विचार को करने में समर्थ होते हैं।[1] वस्तुतः संसार के अन्दर जितने भी महान् व्यक्तित्व वाले मानव हुए हैं, जिन्होंने कोई महान् उज्ज्वल कार्य किए हैं, उनके अंदर मन रूपी ज्योति जाज्वल्यमान रही है। इसलिए वेद में शिव संकल्प सूक्त में व्यक्तित्व की अवधारणा में निम्न प्रकार प्रतिपादित किया गया है– ज्ञानोत्पादक जो मन चेतनाशील, धैर्यरूप और अविनाशी है, वह सब प्राणियों के हृदय में प्रकाश करने वाला है, जिस मन के बिना कोई कार्य किया जाना सम्भव नहीं, मेरा वह मन कल्याणमय विचारों से युक्त हो।[2]

आगे मन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए फिर कहा गया है कि, "जो मन मनुष्यों को कार्य में प्रवृत्त करता है तथा कुशल सारथी जैसे लगाम से वेगवान अश्वों को ले जाता है, वैसे ही मन मनुष्य आदि प्राणियों को ले जाता है। जो मन जरा रहित, अत्यन्त वेगवाला इस हृदय में स्थित है, मेरा वह मन कल्याणकारी विचारों से युक्त हो।[3]

इस प्रकार व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बनाने में जहाँ हमारी जीवात्मा व मन का महत्त्व है वहाँ यदि ये सो जाएं, इन पर इन्द्रियाँ हावी हो जाएं तो व्यक्तित्व पतन के गर्त में गिर जाता है। इसलिए कहा गया है कि "मेरे दोनों कान इधर– उधर भाग रहे हैं, मेरी आँखें इधर–उधर भाग रही हैं, मेरी नासिका, मेरी रसना (जीभ) मेरी त्वचा, मेरी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ इधर–उधर जा रही हैं। ऐसा इसलिए हो रहा है कि हृदय में स्थित आत्मज्योति धूमिल हो गई है। इसके धूमिल पड़ जाने से मन भी तम आच्छन्न हो श्रेष्ठ कर्म न करता हुआ नाना प्रकार के कुत्सित विचारों में उलझ गया है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि व्यक्तित्व की अवधारणा में उसके

---

1. ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
   विश्वेदेवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि विपन्ति साधु।। ऋ० 6/9/5
2. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु
   यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजु० 34/3
3. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते ऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
   हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।। यजु० 34/6
4. वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर् वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
   वि मे मनश्चरति दूरआधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये।। ऋ० 6/9/6

निर्माण व विकास में आत्म ज्योति (आत्मतत्त्व) का महत्त्व स्पष्ट है। इसलिए कहा गया है कि, "हे आत्मन्; तुझे अन्धकार के आवरण के अन्दर स्थित हुआ देखकर सब देव, सब इन्द्रिय गण भयाकुल हो नमस्कार कर रहे हैं और पुकार कर रहे हैं कि यह सबका नायक आत्मरक्षा के लिए हमें प्राप्त हो जाए, यह अमर आत्मा रक्षा के लिए हमें प्राप्त हो जाए।[1]

इसलिए वैदिक आचार्य व्यक्तित्व विकास की इस कड़ी में कहते हैं कि– हे बालक! मैं विविध शिक्षाओं से तेरी वाणी को शुद्ध करता हूँ। तेरे नेत्र, तेरी नाभि, तेरे लिंग (मूत्रेन्द्रिय) तथा तेरी गुदा (मलेन्द्रिय) को पवित्र करता हूँ। मैं तेरे समस्त चरित्र सम्बन्धी व्यवहारों को पवित्र करके तुझे शुद्ध तथा धर्मानुकूल करता हूँ।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक बचपन से ही यह देह शारीरिक, मानसिक व आत्मिक रूप से शुद्ध, पवित्र तथा परिष्कृत नहीं हो जाएगी, तब तक व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सम्भव ही नहीं। इसलिए व्यक्ति को आरम्भ से ही सुशिक्षा की परम आवश्यकता है, जो उसके जीवन का परिष्कार करती है।

वेद में केवल पुरुष मात्र के व्यक्तित्व के उत्थान की बात नहीं की गई अपितु वहाँ नारी जाति के व्यक्तित्व उत्थान की भी अनेक अमृतमयी सूक्तियाँ कही गई है। नारी के व्यक्तित्व की उत्कृष्टता बताते हुए वेदों से परवर्ती साहित्य में कहा गया है कि "गृहिणी से ही घर को घर कहा जाता है, गृहिणी से रहित घर अरण्य के समान है।[3]

व्यास जी की यह वाणी नारी के व्यक्तित्व के महत्त्व को प्रतिपादित करती हैं। वेद में तो नारी जाति का जो स्वरूप प्रतिबिम्बित हुआ है, वह गौरवापद है– वह आदर्श माता है[4], वीराङ्गना है[5], कर्त्तव्यनिष्ठ धर्मपत्नी है[6], सद्गृहिणी है[7], सम्राज्ञी है[8],

---

1. विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम्।
   वैश्वानरो अवतु ऊतये नो अमर्त्यो अवतु ऊतये नः।। ऋ० 6/9/7
2. वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि।
   मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि।। यजु० 6/14
3. न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते।
   गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्।। महा० 12/364/3
4. यजु० 6/31
5. यजु० 5/10/12
6. अथर्व० 14/1, 50, 51
7. अथर्व० 14/1/17, 42, 64
8. अथर्व० 14/1/44

विदुषी है[1], सन्तान की प्रथम शिक्षिका है[2], वह स्तुति योग्य है, रमणीय है, सुशील है, बहुश्रुत है, यशोमयी है। वास्तव में यह मानव शरीर बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। इसलिए हमें इसे दिव्य और उत्कृष्ट बनाना चाहिए। वेद हमें पग-पग पर अपने शरीर को उत्कृष्ट बनाने की प्रेरणा देते हैं। वेदों में कहा गया है कि, हे मनुष्य! ध्यान रख तेरी उन्नति हो, अवनति नहीं; तुझे मैं जीवन और बल दे रहा हूँ।[3]

मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तित्व निर्माण में अनेक राग, द्वेष, मोह आदि बाधाएँ आएँगी किन्तु व्यक्ति को इन्हें पार करके आगे बढ़ना है।[4] जो सत्य को अपने जीवन का आग्रह बना लेते हैं वे आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं।[5] उनका व्यक्तित्व महान् बन जाता है।

व्यक्तित्व विकास में माधुर्य और सौहार्द आवश्यक है।[6] निष्पापता जीवन की गरिमा है, इसलिए कहा गया है कि हे मेरे मन के पाप मुझसे दूर हो जा।[7] व्यक्तित्व विकास हेतु वेद में कहा गया है कि हे मानव! तू आध्यात्मिक, भौतिक तथा आर्थिक उन्नति कर।[8] वेद व्यक्तित्व विकास हेतु मानव को कहता है कि तू शुद्ध है, तेजस्वी है, आनन्दमय है, ज्योतिष्मान है, तू श्रेष्ठता प्राप्ति कर तथा समकक्षों से आगे बढ़ जा।[9] अपने व्यक्तित्व को ओरो से उत्कृष्ट बना। जो व्यक्ति जागरूक तथा सावधान रहते हैं वे ही अपने व्यक्तित्व को ऊँचाइयों पर ले जाते हैं।[10]

वेद व्यक्ति के व्यक्तित्व को दीन-हीन बनाने के लिए नहीं बल्कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को सूर्य के समान ओजस्वी, यशस्वी, अग्नि के समान तेजस्वी, यशस्वी, चन्द्रमा के समान सौम्य व यशस्वी बनाने को कहता है।[11] इसलिए व्यक्तित्व हेतू जो

1. यजु० 20/84, ऋ० 6/61/3
2. ऋ० 1/164/41
3. उद्यानं ते पुरुष नावयानं, जीवातु ते दक्षताति कृणोमि।। अथर्व० 8/1/6
4. अश्मन्वती रीयते संरभध्व वीरयध्वं प्रतरता सखायः।
   अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्।। अथर्व० 12/2/26
5. ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः। ऋ० 9/113/2
   सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा।। ऋ० 4/23/8
6. सहृदयं सामंनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
   अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। अथर्व 3/30
7. परोऽपेहि मनस्पाप। अथर्व० 6/45/1
8. दिवं च रोह, पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह। अथर्व० 13/1/34
9. शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।। अथर्व० 2/11/5
10. इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति यन्ति प्रमादमतन्द्राः।। ऋ० 8/2/18
11. यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
    यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः।। अथर्व० 6/39/3

भी दिव्यता या दीप्ति अथवा तेजस्विता या अच्छे गुण जहां से भी मिले, प्राप्त कर लेने चाहिए।[1] व्यक्ति का व्यक्तित्व ऐसा हो कि वह सबको मित्र की दृष्टि से देखे।[2] वेद में कहा गया है कि मनुष्य का व्यक्तित्व जब बनता है जब वह संसार के व्यवस्थापक परमेश्वर के दिव्य गुणों को समझे और उन्हें समझकर अपने जीवन में धारण करें। तभी इस शरीर में मनुष्यता का जन्म होता है। मनुष्य अपने विवेक और बुद्धि से उत्तम मार्ग का अनुसरण करें[3] और जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य रूपी छः प्रकार की पशुता को नष्ट कर दिया, वह अपने व्यक्तित्व को दिव्य बना सकता है। इसलिए वेद में कहा गया है कि हे मनुष्य! तू 'उलूकयातुम्' उल्लू की चाल अर्थात् मोहयुक्त व्यवहार का परित्याग कर। तू 'शूशुलूकयातुम' भेड़िए की चाल अर्थात् क्रोध का परित्याग कर। तू 'श्वयातुम्' कुत्ते के व्यवहार का अर्थात् भात्सर्य, डाह, जलन और कुढ़ने के कुत्सित व्यवहार का परित्याग कर, तू 'कोकयातुम्' चिड़े की चाल अर्थात् कामातुरता के वश में होकर भोगपशुता का त्याग कर, तू 'सुपर्णयातुम्' गरुड़ की चाल अर्थात् अहंकार का परित्याग कर तथा हे मनुष्य! तू गिद्ध दृष्टि अर्थात् लोभ का त्याग कर।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सक्ता है कि वेद में केवल सुन्दर-सुन्दर, अच्छी-अच्छी वस्तुओं से ही व्यक्तित्व बनाने की अवधारणा ही नहीं की गई बल्कि वहाँ असुन्दर तथा अप्रिय वस्तुओं का भी दिग्दर्शन करवाकर व्यक्ति को चेताया गया है कि उनका अनुसरण करके अपने व्यक्तित्व को पतित न करें। क्योंकि मानव शरीर में यदि सौन्दर्य, सुदृढ़ता और उपयोगिता है तो आलस्य, प्रमाद, मृत्यु, पाप, वृद्धावस्था आदि भी है। इसी प्रकार सत्य, यज्ञ, यश वृहद् आदि के साथ चोरी तथा दुष्कर्म प्रवृत्ति भी है। समृद्धि के साथ असमृद्धि, भाव के साथ अभाव, प्रशंसा के साथ निन्दा ज्ञान के साथ अज्ञान तथा तृप्ति के साथ भूख-प्यास भी है।[5] इन सभी प्रिय-अप्रिय स्थितियों के प्रति जो सदैव सावधान रहकर जीवन की

1. सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
   इन्द्रं या देवी सुभगाजजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना।। अथर्व० 6/38/1
2. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।। यजु० 36/18
3. वनेम पूर्वीर्यो मनीषा अग्निः सुशोको विश्वान्यश्याः।
   आ दैव्यानि व्रता चिक्तिवाना मानुषस्य जनस्य जन्म।। ऋ० 1/70/1
4. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
   सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र।। अथर्व० 8/4/22
5. स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः।
   जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन्।।
   स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
   बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन्।। –

समग्रता को जीता है, वही अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बना सकता है।

✦✦✦

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनुप्राविशन्।।
निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणा श्रद्धा चानु प्राविशन्।।
विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यपुपदेश्यम्।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः।
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये।
हस्ते नरिष्टा नृतानि शरीरमनुप्राविशन्।।
आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये।
शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः।। अथर्व० 11/8/19-25

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (60-65) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

उपनिषदों में वर्णित मोक्ष का स्वरूप

डॉ. विजेन्द्र प्रकाश कपरूवान

विभागाध्यक्ष, सत्त्वयोगीपीठ,
अमितग्राम गुमानीवाला, ऋषिकेश

उपनिषदों में मोक्ष का स्वरूप योग दर्शन के समान ही वर्णित है। छान्दोग्य उपनिषद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मृत्यु के अनन्तर परं ज्योति अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करके योगी अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।[1] मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि कृतात्मा अर्थात् आत्मदर्शन करने वाले योगी की समस्त कामनाएँ इसी जीवन में समाप्त हो जाती है।[2] इसी उपनिषद् में कहा है कि परमात्मा का साक्षात्कार करके हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती है तथा समस्त संशयों का उच्छेद हो जाता है।[3] इन ग्रन्थियों को गुह्य ग्रन्थी कहा गया है, यहाँ पर गुह्य का अर्थ हृदय से है जिसका अर्थ है कि हृदय का अज्ञान रूची ग्रन्थियाँ नष्ट होने पर मोक्ष होता है। जिस प्रकार ग्रन्थियाँ बन्धन का साधन होती है, उसी प्रकार अविद्या आदि क्लेशों के कारण ही जन्म मरण होते हैं। इनसे छूटकर ही मोक्ष प्राप्त होता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि जो विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है। वह हृदय ग्रन्थियाँ (आन्तरिक विकारों) से विमुक्त होकर अमरत्त्व को प्राप्त होता है।[4]

---

1. छान्दोग्य उपनिषद् 8.3.4 अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीत्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तस्य ह....वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति॥
2. मुण्डकोपनिषद् 3.2.2 कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
   पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥
3. मुण्डकोपनिषद् 2.2.8 भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
   क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
4. मुण्डकोपनिषद् 3.2.9 स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
   तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥

बृहदारण्यकोपनिषद् तथा कठोपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यक्ति के हृदय में अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाएँ रहती है। जब इनका समूल विनाश हो जाता है तब मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है और अमर हो जाता है।[1]

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म को प्राप्त करके विद्वान् पुरुष पाप-पुण्य को त्यागकर निर्मल और श्रेष्ठ साम्यरूप को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्म की समता को प्राप्त कर लेता है।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि उस ब्रह्म (परमात्मा) को जान लेने पर सम्पूर्ण विकारों (बन्धनों) से मुक्ति मिलती है तथा सम्पूर्ण क्लेश क्षीण होकर जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल सकती है। वह सम्पूर्ण तत्त्वों से पवित्र उस ब्रह्म (परमात्मा) को जानकर विकार रूप बन्धनों से मुक्ति पा लेता है।[3]

उपनिषदों में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि ब्रह्म को प्राप्त करके मृत्यु के मुख से छूट जाते हैं। इसका यही अर्थ समझा जा सकता है कि ब्रह्मप्राप्ति के पश्चात् जन्म-मरण का चक्कर छूट जाता है। इस प्रकार ऐसी प्रतीत होता है कि उपनिषदों में भी आत्यन्तिक मुक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है। कठोपनिषद् में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म को प्राप्त करके पुनः जन्म नहीं होता है।[4]

प्रश्नोपनिषद् में भी इस प्रकार से कहा गया है।[5] यह कथन आत्यन्तिक मुक्ति की ओर संकेत करता है। केनोपनिषद् में भी मोक्ष को अमृत रूप में ही माना गया है। विद्वान् ज्ञानी लोग समस्त पदार्थों को छोड़कर, जो श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाणी की वाणी, चक्षु का चक्षु, तथा प्राण का प्राण, अर्थात् जो इन सबका कारणभूत

---

1. बृ. उप. 4.4.7 तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृताप्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳशरीरꣳशेतेऽथा-यमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः।
2. मुण्डकोपनिषद्।
3. श्वेताश्वतर उपनिषद् 1.11 ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
   तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥
   श्वेताश्वतर उपनिषद् 2.15 यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
   अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
4. कठोपनिषद् 1.3.8 यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
   स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥
5. प्रश्नोपनिषद् 1.10 अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः॥

तत्त्व है उसे जानने वाला धीर पुरुष इस लोक से जाते हुए अमर हो जाता है।[1]

केनोपनिषद् में कहा है कि उस मोक्षावस्था में चक्षु आदि का ज्ञान नहीं होता है अर्थात् ये इन्द्रियाँ स्थूल रूप में नहीं आती है।[2] केनोपनिषद् में मोक्षावस्था के लिए परमधाम (स्वर्ग) शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] स्वर्ग पद का प्रयोग होना इस होना संकेत करता है कि उस अवस्था में सदा रहने वालों को आनन्द प्राप्त होता है। यह कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि वहाँ स्वर्ग लोक में जरा और मृत्यु को कभी नहीं प्राप्त होता है।[4] अपितु एक रस रहने वाला आनन्द को प्राप्त होता है।[5] इस मन्त्र में 'शोगातित' कहकर दु:खों की निवृत्ति का संकेत मिलता है। **मोदते** से आनन्द का संकेत मिलता है। स्वर्गलोक से सुख विशेष की अवस्था का अभिप्रायजीवनमुक्त अवस्था से है। जीवनमुक्तावस्था से जीवात्मा मोक्ष में चला जाता है। यहाँ पर उपनिषद्कार ने यज्ञाग्नि के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति को बताया है। जब जीवात्मा पूर्णत: शुद्ध हो जाती है अर्थात् वह संसार सागर से पार होकर परमपद को प्राप्त कर लेता है।[6]

यहाँ पर "परमपद" मोक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ है, कहने का तात्पर्य है कि जीवात्मा का सर्वोच्च पद मोक्ष ही है। वही उसकी सर्वोच्च अवस्था पराकाष्ठा या परागति नाम से द्योतक की गयी है।[7] मुण्डक उपनिषद् में मुक्ति और विमुक्ति शब्द का प्रयोग मोक्ष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस उपनिषद् में जीवात्मा और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन स्पष्ट रूप से किया है। मोक्ष का वर्णन करते हुए इस उपनिषद् में कहा है कि जब जीवात्मा द्रष्टा बनकर प्रकाश-स्वरूप पुरुष को देख लेता है, तब

---

1. केनोपनिषद्-1.2 श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राण:।
   चक्षुश्चक्षुरतिमुच्य धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
2. केनोपनिषद् 1.3 न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥
3. केनोपनिषद् 4.9 यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति॥
4. कठोपनिषद् 1.1.12 स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
   उभे तीर्त्वाशिनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
5. कठोपनिषद् 1.1.18 त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
   स मृत्युपाशान्पुरत: प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
6. कठोपनिषद् 1.3.9 विज्ञानसारथिर्यस्तु मन: प्रग्रहवान्नर:।
   सोऽध्वन: पारमाप्नोति तद्विष्णो: परमं पदम्॥
7. कठोपनिषद् 1.3.11 महत: परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष: पर:॥
   पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गति:॥

वह विद्वानब्रह्मज्ञानी होकर पाप-पुण्य को छोड़कर शोक, मोह, राग-द्वेष से अलग होकर परम समता को प्राप्त कर लेता है।[1]

कठोपनिषद् के प्रारम्भ में यमाचार्य ने नचिकेता को प्रथम वर प्रदान करते हुए कहते है कि यहाँ से लौटने पर तुम्हारा पिता तुम्हें मृत्यु के मुख से छूटा हुआ देखेगा।[2] इसका अर्थ यही लगाया जा सकता है कि यमाचार्य के पास से लौटने पर निचकेता ब्रह्म के स्वरूप को भी प्रकार से जान चुका होगा, जिसके फल स्वरूप वह पुनः-पुनः जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाएगा। जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूटने का उपाय बताते हुए कहते हैं कि तीन बार नचिकेताग्नि का चयन करने वाला माता-पिता तथा आचार्य इन तीनों से सम्पर्क करने वाला तथा तीन प्रकार के कर्म करने वाला व्यक्ति जन्म तथा मृत्यु से छूट जाता है।[3] नचिकेता को मृत्यु मुख से छुड़ाने की प्रतिज्ञानुसार ही कठोपनिषद् की समाप्ति पर पुनः कहा गया है कि ब्रह्म को प्राप्त करके नचिकेता मृत्यु रहित हो गया है।[4]

इस कथन से यह स्पष्ट है कि शरीर त्यागने के अनन्तर नचिकेता के जन्म तथा मृत्यु नहीं होगें क्योंकि वह ब्रह्म के स्पष्ट को जानकर मुक्ति को प्राप्त कर लेगा।

उपनिषदों में स्पष्ट है कि मानव जीवन यापन के दो ही मार्ग है श्रेय मार्ग और प्रेय मार्ग।[5] सांसारिक सुखों से आकृष्ट मानस पुरुष ही इस दिशा में प्रवृत्त होते है, वह अन्तिम मंगल साधन नहीं है तभी तो नचिकेता यमराज द्वारा दिये गये शतायुष, पुत्र-पौत्रादि, पशु, हाथी, घोड़े, स्वर्ण, आयु, धन-धन्य, राज्य, इत्यादि तथा इच्छानुकूल भोग सामग्रियों को त्याग देता है।[6] वह कहता है कि मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता।

---

1. मुण्डकोपनिषद् 3.1.3 यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
   तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥
2. कठोपनिषद् 1.1.11 यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
   सुखश्रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्यमुखात्प्रमुक्तम्॥
3. कठोपनिषद् 1.1.17 त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
   ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाः शान्तिमत्यन्तमेति॥
4. कठोपनिषद् 2.3.18
5. कठोपनिषद् 1.2.2 श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
   श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥
6. कठोपनिषद् 1.1.23 शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्वबहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्।
   भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥

इस रहस्य को समझने के बाद सब कुछ प्राप्त हो जाता है।[1] जीर्ण होने वाली मरणवस्था को प्राप्त करेगा।[2] आप मुझे केवल तत्त्व ज्ञान दीजिए।

बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद द्वारा भी यही बताया गया है कि यदि मैं वित्तादि को लेकर अमर नहीं हो सकती तो मैं उसे लेकर क्या करूँगी, अतः आप मुझे अमरत्त्व का उपदेश दे।[3] तब याज्ञवल्क्य कहते है कि यह सब कुछ धन, पुत्र, पत्नी, और जिस आत्मा के लिए प्रिय होता है वही आत्मा दृष्टव्य, श्रोतव्य, मनतव्य और निदिध्यासितव्य है।[4] इससे उस आत्मा को ही जानना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि विचारशील पुरुष प्रेयोमार्ग को त्यागकर श्रेयोमार्ग का ही वरण करता है। यही श्रेयोमार्ग मनुष्य की मोक्ष की ओर ले जाता है, क्योंकि इससे बढ़कर अन्य कोई मार्ग नहीं है।[5] उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का अर्थ है–स्वोपलब्धि , जिसका तात्पर्य आत्मरति, आत्मानन्द है अर्थात् मुक्तावस्था में जीवात्मा से ही प्रेम करता है, उससे ही बोलता है और उसी में आसक्त रहता है और उससें ही निरतिशय आनन्द को प्राप्त करता है।[6] इसकी कोई सीमा नहीं है। जिस प्रकार प्रिया से आलिंगित होकर पुरुष बाह्य और अन्तर किसी भी पदार्थ को नहीं जानता उसी प्रकार स्वात्मानन्द में लीन होकर पुरुष न बाह्य को जानता है और न अन्तर को,

---

1. कठोपनिषद् 1.1.24 एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥
2. कठोपनिषद् 1.1.27 न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥
3. कठोपनिषद् 1.1.28 अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥
4. बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.3 सा होवाच मैत्रेयी येनाहं मृतास्यांकिमहं कुर्यां? यदेव भगवान्वेदतदेवमेब्रूहीति॥
   बृहदारण्यक उपनिषद् 2.4.5 स होवाच न वा अरे पत्युः............सर्वं विदितम्॥
5. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3.8 वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
6. छान्दोग्य उपनिषद् 7.25.2 अथवा आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्म दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳसर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति॥

उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती है।[1] परमगति रूप मोक्ष का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उस अवस्था में पांचो ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, आत्मतत्त्व में स्थिर हो जाती है और बुद्धि भी चेष्टा रहित हो जाती है, तब इस स्थिति को परमगति कहते हैं।[2]

जब पुरुष ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है तब हृदय में स्थित सब कामनाओं का विनाश हो जाता है अर्थात् हृदय में स्थित सब कामनाएँ छूट जाती है।[3] तथा हृदय की ग्रन्थि का अज्ञान छिन्न हो जाता है।[4] मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है कि उस परब्रह्म को तत्त्वतः जान लेने पर मनुष्य की हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, उसके सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके सम्पूर्ण (प्रारब्ध) कर्म क्षीण हो जाते हैं।[5]

उपनिषदों में मोक्ष दुःखाभाव रूप ही नहीं अपितु आनन्द रूप भी है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है कि आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचनेति।[6] आदि उपनिषद् वचनों का यही तात्पर्य है केवल ब्रह्मलोक में वास मोक्ष नहीं है अपितु अभौतिक शरीर से आनन्दोपभोग करना मोक्ष है।

✦✦✦

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.3.21 तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳ रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद नान्तर तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳ रूपꣳ शोकान्तरम्॥
2. कठोपनिषद् 2.3.10-11 यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्।
   तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्॥ अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥
3. कठोपनिषद् 2.3.14 यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः।
   अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
4. कठोपनिषद् 2.3.15 यदा सर्वेप्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
   अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम्॥
5. मुण्डकोपनिषद् 2.2.8 भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
   क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
6. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली-4.1 यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचनेति।

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (66-70) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

ऋग्वेद में आयुर्वेद की पृष्ठभूमि

-डॉ. मोनिका मिश्रा
असिस्टेंट प्रोफेसर
माता सुंदरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

वेदों में आत्मा, मन, शरीर आदि विषयों की व्याख्या की गई है। वेदों के द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक साक्ष्यों की प्राप्ति होती है इसलिए वेदों का महत्वपूर्ण स्थान है। बिना आरोग्यता के धर्म आदि चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करना मनुष्य के लिए असंभव है। इसी दृष्टि से आरोग्य सर्वोत्तम है और उसको प्राप्त करने का साधन आयुर्वेद है।

आयुर्वेद शब्द मुख्य रूप से दो शब्दों का यौगिक रूप है- आयुः और वेद। जिसका अर्थ है "आयु का वेद"। चरक संहिता में आयु को परिभाषित करते हुए कहा गया है-

शरीरेन्द्रिय सत्वात्मसंयोगोधारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबंधश्च पर्यायोरायुरुच्यते।। (चरक संहिता अनुच्छेद 1)

अर्थात् शरीर, इंद्रिय, सत्व और आत्मा के संयोग को "धारि जीवित" कहा गया है। नित्यग अनुबंध भी आयु के पर्यायवाची नाम हैं।

विद् धातु से निष्पन्न वेद शब्द का अर्थ है-ज्ञान। इस प्रकार आयु और वेद दोनों शब्दों का अर्थ हुआ आयु का ज्ञान और आयु में न केवल शरीर अपितु आत्मा, मन आदि चारों भावों का ज्ञान। अतः शरीर इंद्रिय मन एवं आत्मा के विषय का ज्ञान जिस शास्त्र में हो उस शास्त्र को आयुर्वेद कहा गया है।

चरक के अनुसार हितमय, अहितमय, सुखमय, दुखमय आयु का तथा आयु के लिए हितकारक एवं अहितकारक (द्रव्य, गुण, कर्म) का और आयु की मान का जिस शास्त्र में वर्णन हो उस शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं।

हितमहितं सुखं दुखमायुस्तस्यहिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदम् उच्यते।। (चरक सू. अ. 1/41)

आयुर्वेद की रचना मानव की उत्पत्ति से पूर्व ही हो चुकी थी। आयुर्वेद शाश्वत और नित्य है। वेदों का अवलोकन करने से विदित होता है कि आयुर्वेद के

त्रिसूत्र विषयक अनेक संदर्भ यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं जो सिद्ध करते हैं कि आयुर्वेद उससे पूर्व काल में या उस समय में था। आयुर्वेद वेद का उपवेद है। वेद जिस प्रकार अनादि अनंत व नित्य है उसी प्रकार से आयुर्वेद भी अनादि है। ब्रह्मा जी ने उसे तैयार करके सर्वप्रथम स्मरण करके लोक कल्याण के लिए जगत् की रचना से पूर्व ही तैयार कर लिया था जिससे अवसर आते ही तत्क्षण उसका उपयोग हो सके क्योंकि जगत् की योजना पहले से ही थी अतः आयुर्वेद ज्ञान विज्ञान आदि लोकोपकारक तत्व पहले से ही तैयार किए गए थे।

सर्वप्रथम ब्रह्मा जी ने वेदों का स्मरण किया जिसमें आयुर्वेद नहीं था उस ज्ञान को उन्होंने दक्ष प्रजापति को दिया, दक्ष प्रजापति ने वही ज्ञान अश्विनी कुमारों को दिया, अश्विनी कुमारों ने प्रजापति इंद्र को प्रदान किया, इंद्र से वही ज्ञान भारद्वाज आदि महर्षियों के माध्यम से भूलोक में प्रचलित हुआ। वेदों से पूर्व की, वेदों के समय की, वेदों के पश्चात् की सभी बातों के लिए वेद ही प्रमाण एवं तथ्य पूर्ण है अतः आयुर्वेद का स्रोत वेद है।

वैदिक संहिताओं में रोग निवारण संबंधी जो उल्लेख प्राप्त होते हैं उनके आधार पर हमें अत्यंत प्राचीन काल से भेषज्य विकास के ज्ञान का संकेत मिलता है। चिकित्सा शास्त्र का उपजीव्य मुख्य रूप से ऋग्वेद ही है। यद्यपि अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर चिकित्सा संबंधी वर्णन प्राप्त होते हैं। साथ ही भैषज्यानि, आयुष्याणि, पौष्टिकानि आदि सूक्तों का वर्णन स्वतंत्र रूप से भी है, जिनके आधार पर कतिपय विद्वानों का मत है कि आयुर्वेद का संबंध अथर्ववेद के साथ है परंतु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि ऋग्वेद प्राचीनतम है। आयुर्वेद का संबंध विशेष रूप से ऋग्वेद से है क्योंकि इस वेद में रोगों का वर्णन तथा चिकित्सा संबंधी सामग्री उपलब्ध है।

ऋग्वेदकालीन व्यक्ति स्वस्थ एवं सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए प्रयत्नशील रहा करते थे। वैदिक आर्यों ने आयुर्वेदिक ज्ञान को मनुष्यों से ही नहीं वरन् पशु पक्षियों से भी सीखा था। इस विषय में शौनक का मत है कि "कुछ पौधों (औषधि) को वाराह जानता है, कुछ को नेवला, कुछ को सांप तथा कुछ को गंधर्व। मैं इनमें से कुछ का उसके लिए प्रयोग करता हूं कुछ औषधियों को मृग जानते हैं, कितनी औषधियां गायें, भेड़ें, बकरियां जानती हैं।" (शौनक संहिता 2/9/3)

इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम मनुष्य ने भेषज ज्ञान को देवों, पशुओं, पक्षियों से प्राप्त किया तदनंतर उसे अपने क्षेत्र में अन्वेषण कर विस्तृत किया। ऋग्वेद में बहुत से वैद्यों के साथ-साथ मुख्य रूप से अश्विनी कुमारों द्वारा विभिन्न चमत्कारपूर्ण भैषज्य विषयों का वर्णन मिलता है, जैसे जरावस्था वाले च्यवन

तथा वंदन ऋषि को अश्विनी कुमारों द्वारा रसायन प्रयोग से पुनः यौवन की प्राप्ति हो गई थी। (ऋग्वेद संहिता 1/116/10, 1/117/13, 1/119/7)

दासों द्वारा अग्नि और जल में फेक दिए जाने पर भी जीवित बचे हुए दीर्घतमस् ऋषि का पुनः दास द्वारा सिर काट दिए जाने पर अश्विनी कुमारों ने उन्हें स्वस्थ बनाकर 10 युग पर्यंत वृद्धावस्था से रहित होकर जीवित रखा था।

(ऋग्वेद संहिता 1/158/4-6)

कटे हुए अंगों वाले अत्रि के शरीर के अवयवों को जोड़कर अश्विनी कुमारों ने ठीक किया था अश्विन कुमारों ने मधु विद्या प्राप्त करने की इच्छा से दधीचि ऋषि के सिर को अलग करके उसे रखकर उसकी जगह घोड़े का सिर जोड़कर उसके द्वारा मधु विद्या (प्राण विद्या) ग्रहण करके फिर घोड़े का सिर काट कर उसके स्थान पर पुनः उसका सिर जोड़ दिया था।

(ऋग्वेद संहिता 1/116/12, 1/117/22)

अंधे ऋज्राश्व तथा कण्व को दृष्टिदान, बहरे नार्षद को श्रोत्रदान, पंगुपरावृज तथा जिसके घुटने खराब हुए हैं ऐसे सोपर्षि को गति दान कराया गया था, विश्वक् का पुत्र नष्ट हो गया था अतः उसे पुनः अश्विनी कुमारों ने प्राप्त कराया था।

(ऋग्वेद 1/116/23)

अश्विनी कुमारों के अनेक अद्‌भुत चमत्कार-वायु, दिक्, पृथ्वी आदि के समान देव भिषग् अश्विनी कुमारों द्वारा अनुकूल भेषज की प्रार्थना तथा औषधि वनस्पति आदि की विशेष रुप से, "तुम दोनों भैषज्य के द्वारा भिषक् होवो" इस प्रकार अश्विनों की प्रार्थना ऋग्वेद में कई स्थलों पर की गई है।

ऋग्वेद में विविध प्रकार के विष तथा कृमियों का वर्णन और उनका प्रतिकार (ऋग्वेद 1/119 /1-16), विभिन्न प्रकार के यक्ष्मा रोगों का वर्णन तथा उपचार द्वारा दूर करना, सूर्य चिकित्सा द्वारा हृदय रोग आदि को दूर करना, जल का भेषजत्व, औषधियों का वर्णन आदि उपलब्ध है, ऋग्वेद में शल्य चिकित्सा एवं अगद चिकित्सा का वर्णन विशेष रूप से मिलता है, वेदों में यद्यपि रुद्र, हनु, अग्नि, वरुण, मरुत् आदि से भी स्वास्थ्य की कामना की गई है परंतु चिकित्सा कार्य के संदर्भ में मुख्य रूप से अश्विनीकुमारों को ही "देवानाभिषजौ" के रूप में कहा गया है। ऋग्वेदोक्तिलिखित अश्विनीकुमारों की शल्यक्रिया को जानकर आश्चर्य होता है कि इतने प्राचीन समय में भी इतनी कठिन शल्य कर्म होते थे लौह शस्त्रों के माध्यम से कटे अंगों को जोड़ना, सिर को हटाकर पुनः उसे यथास्थान लगाना आदि विलक्षण

कर्म ऋग्वेद में वर्णित हैं। चोट, अस्थि भंग, अंग भंग आदि के उपचारार्थ औषधियों का भी प्रयोग होता था।

ऋग्वेद में अश्विनी कुमारों के बाद भैषज्य से संबंध रखने वाला दूसरा देवता रुद्र है इनके पास सहस्त्र औषधियां हैं। रुद्र का उल्लेख श्रेष्ठतम चिकित्सक के रूप में ऋग्वेद में मिलता है–

"भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि" (ऋग्वेद 2/33/4)

रुद्र से कल्याणकारी औषधियों की भी कामना की गई है–

"स्तुतस्त्वं भेषजा रास्यस्मे" (ऋग्वेद 2/33/12)

ऋग्वेद में चिकित्सकों में इंद्र का तृतीय स्थान है। इंद्र ने अपाला के चर्म रोग व उसके पिता के गंजे रोग का निवारण किया था। अग्निदेव से भी अनेक स्थलों पर रोग निवारण के लिए प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार आयुर्वेद में दिवोदास को शल्य तंत्र का पृथ्वी पर प्रचार करने वाला, भारद्वाज को पृथ्वी पर कायचिकित्सा का प्रचार करने वाला मानते हैं जबकि अश्विनीकुमार दोनों शाखाओं में पारंगत थे।

ऋग्वेद के मंत्रों में व्याधियों का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। राज्ययक्ष्मा, ग्राहि, पृष्ठयामय, हृद्रोग, कृमिरोग आदि के साथ ही शरीर के अंग प्रत्यंग एवं उनमें होने वाली व्याधियों का भी वर्णन है। दशम मंडल का 163 सूक्त यक्ष्मानाशन के लिए है जो प्रत्येक अंग के नाम उल्लेख के साथ उसमें व्याप्त यक्ष्मा के नाश का उल्लेख करता है–

अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जात पर्वणि पर्वणि।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते।। (ऋग्वेद 10/163/6)

संपूर्ण शरीर को जकड़ने वाले ग्राहि नामक रोग का वर्णन तथा विद्युत् एवं अग्नि गुण वाली औषधियों से चिकित्सा करने का संकेत है। ऋग्वेद में "कृमि वर्णन" भी अनेक मंत्रों में आता है। विषैले दृष्ट, अदृश्य नाना प्रकार के कृमि जो रोग फैलाते हैं दुर्णामा, पापनामा के नाम से उल्लिखित हैं। (ऋ. 10/162/2)

यह पापप्रदेश में उत्पन्न कुकर गर्भाशय को हानि पहुंचाते हैं ऋग्वेद में इनकी चिकित्सा सूर्य की किरणों द्वारा बताई गई है इसलिए सूर्य का नाम अदृष्टहा बताया गया है जो दृष्ट, अदृष्ट सभी प्रकार के कृमियों के नाश का ज्ञान कराता है। ऋग्वेद के अनुसार उन्माद रोग का कारण भी कृमि ही है, अग्नि तथा इंद्र यह दोनों कृमि नाशक हैं।

ऋग्वेद में प्रायः प्राकृतिक वस्तुओं से आरोग्य प्राप्ति का निर्देश है जैसे- सूर्य, जल, वायु, अग्नि आदि से चिकित्सा की जाती है। ऋग्वेद के औषधि सूक्त में औषधियों के स्थान स्वरूप, गुण, वर्गीकरण, प्रयोग एवं उनके कार्यों का संकेत है तथा औषधियां शरीर में प्रविष्ट होने के बाद जिस प्रकार से अंग अंग, पर्व पर्व में फैल कर अपना प्रभाव डालते हुए कार्य करती हैं, इत्यादि का विशद परिचय मिलता है।

ऋग्वेद काल की प्रमुख औषधियों में पुष्पवती, प्रसूवरी, अपुष्पा, अफला, अवपतन्नीदिव, देवी, धामनिशतम, परागाता, परिष्ठा, पर्णवसति, फलिनि, बह्वी, बृहस्पति, प्रसूता, माध्वी, रूह, सहस्त्रम, शतकृत्वः, रोमराजी इत्यादि थीं।

ऋग्वेद में विभिन्न रोग, औषधि, रोगों के कारण कृति आदि अमुक औषधियों के सेवन से अमुक रोग का प्रतिकार किया जा सकता है इत्यादि विषय भी मिलते हैं। ऋग्वेद काल में सैकड़ों औषधियों के संग्रहकर्ता भिषक् (वैद्य) होते थे तथा वैद्य भी सैकड़ों की संख्या में थे।

शतं ते राजन् भिषजः सहस्त्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टेअस्तु॥

(ऋग्वेद 1/24/9)

औषधि रूप में ज्ञात लता वनस्पतियां आदि भी स्वल्प नहीं थी अपितु हजारों की संख्या में थीं जिन से ज्ञात होता है कि की आयुर्वेद विज्ञान के ज्ञाता सैकड़ों महर्षियों द्वारा प्रतिपादित संपूर्ण रूप से व्यवहृत तथा श्रृंखला रूप में विद्यमान संपूर्ण औषधियों से युक्त आयुर्वेद विज्ञान ऋग्वेद में समाहित था।

ऋग्वेद काल में औषधियों का विक्रय भी किया जाता था औषधियों को बेचकर धन, गो, अश्व, वस्त्र आदि लिया जाता था। (ऋग्वेद 10/97/4)

इस प्रकार आयुर्वेद की ऋग्वेद में पृष्ठभूमि कहना अनुचित ना होगा। यह ऋग्वेद का ही उपवेद है। ऋग्वेद से ही समाहित होकर आयुर्वेद आर्यावर्त में विकसित हुआ। इसका सम्यक् प्रमाण चरक, सुश्रुत आदि के ग्रंथों में उपलब्ध है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (71-78) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

वेदार्थ में छन्दविज्ञान का महत्त्व

डॉ. हेमन्त चतुर्वेदी
गंगापुर सिटी, जिला-सवाईमाधोपुर
(राजस्थान)

जगत् की सृष्टि में जीव कहां से आता है, यह एक जिज्ञासा का विषय, रहस्यमय बना हुआ है। मेरे इस लेख में ऐसा कोई समाधान प्रस्तुत नहीं है, लेकिन वेदों में वर्णित विषयों का सूक्ष्मरूप से मन्थन अवश्य किया गया है।

वेदों के अनुसार इस जगत् का आधार एक मूलतत्त्व है, यही मूलतत्त्व, इस जगत् की सृष्टि करते हुए इसमें प्रविष्ट होकर इसे जीवित बनाये हुए रहता है। इसी की सत्ता से इस विश्वजगत् में पदार्थों एवं जीवों की सत्ता बनी रहती है। इसी की चेतना से यह जगत् संचेतित बना हुआ है। जीवों में जो चेतना होती है, वह परम चेतनशील ब्रह्म की ही चेतना का अंश है। इस परम चेतनशील ईश्वर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, उसके अविकारी रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। वह अजायमान होते हुए भी बहुधा विजायमान बना रहता है।[1] उसके एक पाद से सारा जगत् उत्पन्न होकर फूलता-फलता है और अपने तीन पाद से अमृत लोक में अमृत स्वरूप में स्थित रहता है।[2] यही उस परमतत्त्व की विशेषता है कि दो विरुद्ध धर्म, अजायमान और बहुधा विजायमान धर्म, उसमें सदा एक साथ विराजमान रहता है। उसके त्रिपाद स्वरूप में ही उसकी अमरता छिपी हुई है। त्रिपाद में ही गति सम्भव है, क्योंकि यही त्रिपाद या ऋक्, यजु, साम या ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र या आगति, गति और स्थिति ही गर्भ का निर्माण करता है। इसे ही हृदय नाभि, नुहा, गति आदि नामों से पुकारा गया है। इसी की नाभि में स्थित होकर त्रिक अपनी गति से सारे विश्व का सृजन करता है। सारा विश्व इसी नाभि में स्थित रहकर अमृतमय बना रहता है। वह गति क्यों करता है? इसका कारण-प्रचण्ड तेज है। हजारों सूर्य के तेज अथवा गर्मी के समान जब

1. प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा वि जायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा। शु.य. 31.19
2. त्रिपादूर्ध्वउदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। यजुर्वेद पुरुष. सू. 31.3

गर्मी पैदा होती है, तब अव्यक्त पदार्थ, जो मूल रूप में स्थित रहता है, गर्मी के कारण गति करता हुआ, व्यक्त हो जाता है।[1] जब गति करता है, तब उसकी गतिकर्म के लिए आकाश की आवश्यकता होती है। आकाश को स्थान एवं स्पेश कहा जाता है। बिना आकाश के कोई गति सम्भव नहीं हैं। वेदार्थ में छन्दविज्ञान का सम्बन्ध इसी क्षेत्र से है।

ऋक्, यजुः, साम के अभाव में निष्क्रियता बनी रहती हे। ऐसी स्थिति में सृष्टि कर्म सम्भव नहीं है। इस अवस्था का नाम शून्य है। जब ऋक्-यजुः साम सक्रिय होकर मन और प्राणों की सहायता से आकाश का निर्माण करता है, तब उस आकाश में सृष्टि की गतिविधियां प्रारम्भ होती है। यही अर्थ है **तस्माद्वा एतस्मात् आकाशः सम्भूतः** का। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने यजुः का लक्षण करते हुए लिखा है–**अयं वाव यजुः योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्व जनयत्येतं यन्तमिदमनु प्रजायते, तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः। यदिदमन्तरिक्षं ह्याकाशमनुजवते। तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षंच जूश्च।**[2] जब ऋक्-यजुः साम के साथ गति करता है, तब जगत् की उत्पत्ति होती है। उसकी गति के लिए आकाश की आवश्यकता होती है और उस आकाश का नाम जू है। इस प्रकारयत् और जूः अर्थात् गति और स्थित्यात्मक आकाश दोनों मिलकर जब गति करते हैं, तब इस विश्व की उत्पत्ति होती है। स्थित्यात्मक आकाश को पुर कहा जाता है और उस पुर में प्रवेश कर स्थिर रहने वाले तत्त्व को पुरुष कहा जाता है। यह पुर और पुरुष का सिद्धान्त वैदिक सृष्टि विज्ञान में बड़ा महत्वपूर्ण है। उसी पुर में आकाश, वायु, अग्नि, आपः और पृथिवी है। ये सभी ऋक्-यजुः एवं साम की गति का आधार होने के कारण जहां पुर है, वहीं उन तत्त्वों को स्थिर कर देने के कारण पुरुष भी है। पृथिवी पुर और अग्नि उसका देवता पुरुष है, अन्तरिक्ष पुर और वायु इन्द्र इसके देवता पुरुष है। द्युलोक पुर और आदित्य इसका देवता पुरुष है। परमेष्ठी पुर एवं आपः इसके देवता पुरुष है। स्वयंभू पुर है और मौलिक ऋष्याग्नि इसका पुरुष है।

इस पृथिवी पर प्रत्येक पदार्थ पुरुष है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उस प्रजापति का या उस सच्चिदानन्द का या उस परम तत्त्व का पुर है और उसमें रहने वाला प्राण, मन और आत्मा, पुरुष है। इसी सन्दर्भ में वेद में लिखा है–**पुरुष एवेदं सर्वम्**[3]**, सर्वं**

---

1. ततः स्वयम्भूर्भ गवान्नव्यक्तो व्यन्चयन्निदम्।
   महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ मनुस्मृति 1.6
2. शतपथ ब्रा. 10.5.2.1
3. शुक्ल. य. 31.16

खल्विदं ब्रह्म।[1] **ईशावास्यमिदं सर्वम्**[2] उसी ब्रह्म की सत्ता से पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की सत्ता बनी रहती है। उसी की चेतना एवं आनन्द से जीव में चेतना और आनन्द बना रहता है।

छन्दस्वरूप एवं विषय

यहां पर आकर वह एक अखण्ड, अविनाशी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध आत्मा अनेक रूपों को धारण कर लेता है। अब शंका उत्पन्न होती है कि वह एक अखण्डात्मा विभिन्न रूपों को क्यों एवं कैसे धारण करता है। यहां शंका का समाधान, छन्द शास्त्र है। इस छन्दः शास्त्र तक लाने के लिए तथा भारतीय सृष्टि विज्ञान का संक्षेप में स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए यह भूमिका बनानी पड़ी है क्योंकि वैदिक सृष्टि विज्ञान और छन्दोविज्ञान दोनों विषय अत्यन्त गम्भीर एवं प्राक्तन है। वह अव्ययात्मा इस ब्रह्माण्ड में कैसे प्रवेश करता है, इसका स्पष्ट शब्दों में वर्णन वेदभगवान् करते हैं-

शुक्लयजुर्वेद में वर्णन मिलता है–**चत्वारि श्रृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२ऽआ विवेश।**[3] वह परमतत्त्व इस जगत् में आकर प्रविष्ट कर जाती है।

चतुभिरात्मा इस सिद्धान्त के अनुसार **श्रृङ्ग** यहां आत्मा का वाचक है अथवा ऋक्–यजुः साम और अथर्व ये चार श्रृङ्ग स्वरूप आत्मा के चार विभाग हैं। **त्रयोऽस्य पादाः** का अभिप्राय अधिदेव में आत्मा, प्रकृति और विकृति ये तीन विभाग हैं, जिन्हें अव्यय, अक्षर एवं क्षर भी कहते हैं किन्तु अधिभूत में प्रातः मध्याहन् और सायं सवन ही उनके तीन पांव हैं। द्वे शीर्षे का अधिदेव में अभिप्राय है- विद्या और कर्म किन्तु अधिभूत में इसका अर्थ- उत्तरायण काल एवं दक्षिणायन काल है। **सप्त हस्तासः का अभिप्राय-सात छन्दों से है- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती।** अधिभूत में इसका अर्थ-भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् ये ही सात हाथ हैं। त्रिधाबद्धः का अभिप्राय है- मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प इन तीनों से आबद्ध हैं। अधिभूत में अर्थ है-वर्तमान, भूत और भविष्य काल, इन कालों से भी बद्ध। इस प्रकार वह परमात्मा वृषभ हैं और वृष का अर्थ है प्राणों की वर्षा करने वाला, वृषभ भयंकर ध्वनि करता हुआ, इस मर्त्य भुवन में प्रवेश करता है।

---

1. 'सर्वत्र ब्रह्म ही है' छान्दोग्य उपनिषद् 3/14/1- सामवेद
2. 'शुक्ल.' य. 40.1
3. शुक्ल. य. 17.91

इस प्रकार वेदों का निर्भ्रान्त सिद्धान्त है कि मूलतत्त्व ब्रह्म ही इस जगत् के रूपों में अभिव्यक्त हो जाता है। अपनी अभिव्यक्ति के लिए ब्रह्म, यज्ञ स्तोम और छन्दों की सहायता लेता है। अग्निषोमात्मक परस्पर मेल को यज्ञ कहते हैं, इसी यज्ञ के द्वारा परमात्मा विश्वात्मा बन जाता है। भूः, भुवः, स्वः आदि महाव्याहृतियां ही पुर कही जाती हैं और ये पुर विभिन्न स्तोमों पर स्थित रहता है। विभिन्न स्तोमों पर विभिन्न प्रकार के प्राण-देवता और **छन्द** रहते हैं, जो इस विश्व के स्वरूप को बनाने में सफल होते हैं।

छन्द

छन्द वह तत्त्व है, जिसकी सहायता से मूलतत्त्व अपना भौतिक स्वरूप तथा उसकी आकृति ग्रहण कर लेता है।[1] छन्द की सहायता से ही प्राणतत्त्व अपनी अनेक प्रकार की आकृतियों को ग्रहण करते हैं एवं उसमें स्थित हो जाने में समर्थ हो पाते हैं।[2], [3]इसी कारण छन्दः की परिभाषा- **छन्दः छादनात्** इस निर्वचन के द्वारा की जाती है। छन्द प्राणों को आच्छादन करने वाला होता है अर्थात् उस अव्यक्त तत्त्व को व्यक्त करने वाला आधार है। जब अव्यक्तात्मा विश्वात्मा बनने के लिए अपना मूर्त स्वरूप बनाने के लिए उद्यत होता है, तब लोक में छन्दों के द्वारा ही व्यक्त स्वरूप प्रकट होता है।[4] वह आच्छादित रूप देवता अपने-अपने आकृति विशेष के कारण इस जगत् में अपनी पहचान बना लेता है। वह आकृति बिना छन्द की सहायता से नहीं बन सकती। अतः उस आकृति विशेष को ही छन्द कह दिया जाता है। यही **छन्दो छादनात्** का अर्थ है। इस पृथिवी पर असंख्य आकृतियां होती हैं, अतः छन्द भी अनेक प्रकार के होते हैं। समस्त स्थावर जंगम प्राणों के साथ ही जीवित रहते हैं। प्राणों को धारण करना ही जीवन है। उसके अभाव में मृत हो जाते हैं। वह प्राण प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हैं। उन-उन प्राणों से ही वे जीव जीवित रहते हैं। जैसे स्वर, व्यंजनों के प्राण। उन-उन स्वरों की सहायता से वे वे व्यंजन बोले जाते हैं। ऐसे प्राणों को छन्दों का वाचक प्राण कह दिया जाता है। उसका वाचक शरीर मात्रा है और मात्राओं से छन्द बनते हैं। लेकिन भौतिक प्राण, वैश्वानर होता है, जो जीवों को जीवित रखता है। अतः उससे बनने वाले जगत् की आकृति का स्वरूप भौतिक छन्द कहा जाता है।

---

1. शुक्ल यजुर्वेद-13.58
2. ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवाऽसि ध्रुवं योनिमा सीद् साधुया।
   उख्यास्य केतुं प्रथमं जुषाणऽश्विनाऽध्वर्य सादयतामिह त्वा॥ शु.य.14.1
3. शुक्ल.य. 14.6
4. शुक्ल.य.14.5

जो छन्द, सर्वप्रथम इस विश्व की सृष्टि की इच्छा से असीम तत्त्व को सीमित करता है, उस छन्द का नाम माच्छन्दः है। जो छन्द, उस, सीमित प्रदेश में केन्द्र के अव्यय पुरुष को उदित करता है, उस छन्द का नाम प्रमाच्छन्दः। जो छन्द केन्द्रस्थ तत्त्व का विस्तार करता हुआ उसमें केन्द्र-व्यास-परिधि की सहायता से सुस्थिर होकर विकासोन्मुख होता है, तब उस छन्द का नाम अस्त्रीयवच्छन्दः होता है। जब उत्तर की ओर विकसित होने के लिए अभिमुख होता है, तब उसका नाम गायत्री छन्द होता है। उससे अधिक तीव्र होकर बढ़ने की स्थिति में अर्थात् जब विकास की अन्तिम सीमा तक पहुंचकर बरसने लगता है, तब अनुष्टुप् छन्द का स्वरूप बनता है। पुनः केन्द्रस्थ होकर बृहदाकार में फैल जाता है, तब बृहती छन्द की ओर अग्रसर होता है, एवं अग्नि की मात्रा में उष्णता उसके केन्द्र से दूर होने के कारण कमी आती है, उस स्थिति में पंक्ति छन्द और केन्द्र से सुदूर दक्षिण में पहुंचकर जगती छन्द का स्वरूप बन पाता है। इसी अभिप्राय से वेदोपदेश है-**मा छन्दः प्रमाछन्दः प्रतिमा छन्दो अस्त्रियवश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्दः उष्णिक्छन्दो बृहतीछन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो, गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप्छन्दो जगती छन्दः।** (शुक्ल. य. 14.18)

देवता किस छन्द पर आरूढ़ होकर इस पृथिवी पर आता है, तब किस-किस भौतिक तत्त्व की उत्पत्ति होती है? इसका भी वर्णन, मा-प्रमा छन्दों की सहायता से की गई है। ये इस प्रकार से हैं-

मा छन्दः तत्पृथिवी अग्नि देवता॥1॥
प्रमा छन्दः तदन्तरिक्षम् वातो देवता॥2॥
प्रतिमा छन्दः तद् द्योः सूर्यो देवता॥3॥
अस्त्रीवि छन्दः तद्दिशः सोमो देवता॥4॥
विराट् छन्दः तदवाक् वरुणो देवता॥5॥
गायत्री छन्दः तदजा (अज अग्नि) बृहस्पति देवता॥6॥
त्रिष्टुप् छन्दः तद्धिरण्यम् इन्द्रो देवता॥7॥
जगती छन्दः तदौ प्रजापतिर्देवता॥8॥
अनुष्टुप् छन्दः तद्वायुः मित्रोदेवता॥9॥
उष्णिक छन्दः तच्चक्षुः पूषा देवता॥10॥
पंक्तिछन्दः तत् कृषि पर्जन्यो देवता॥11॥
बृहती छन्दः तदश्वः परमेष्ठिदेवता॥12॥

(आपस्तम्भ श्रौ. सू. 16.28.1)

यही नियम इस पृथिवी आदि की उत्पत्ति एवं स्थिति में लागू होता है। **मा**

छन्दः पृथिवी का है, **प्रमा** अन्तरिक्ष का एवं **प्रतिमा छन्द** द्युलोक का है। **अस्त्रीवच्छन्द** अन्न का है, एवं समस्त व्यक्त जगत् विराट् छन्द का। (श.ब्रा.8.2.3.5) इन्हीं छन्दों पर आरूढ़ होकर देवता (प्राण) इस पृथिवी पर आते हैं। इस पृथिवी का एवं सूर्य का जो परस्पर सम्बंध है, इन दोनों के बीच जो दूरी है, उनसे प्राणों की मात्रा तथा छन्दों में अनेक प्रकारता उत्पन्न करता है, जो विश्व में उत्पन्न होने वाला अनेक प्रकार के मनुष्य, पशु-पक्षी-कृमि-कीट-गुल्म-वनस्पति आदि की उत्पत्ति के कारण बनते हैं।

गायत्री आदि सात छन्द ही सूर्य के सात अश्व हैं। इन्हीं छन्दों पर गमन करने से पूरा सम्वत्सर पुरुष सौर जगत् की स्थिति बनती है। इसी से सम्वत्सर यज्ञ संचालित होता है। जिस यज्ञ से मनुष्य आदि सभी प्राणी, अन्न, वृक्ष एवं औषधियां उत्पन्न होती हैं एवं उस काल में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। ऋतुओं में, मासों, पक्षों और दिनों में अनेक प्रकार के देवता द्युलोक से इस पृथिवी पर आते हैं, एवं प्रतिदिन, प्रतिप्रहर एवं प्रतिक्षण नानात्मक नव-नव सृष्टि, इस विश्व में होती रहती है। सर्वहुतयज्ञों के द्वारा इन्हीं देवताओं एवं छन्दों से विश्व में सृष्टि पदार्थों का पोषण होता रहता है और उत्पन्न पदार्थ अपने आयु के अनुसार पुनः इसी मूलतत्त्व में विलीन होते रहते हैं।[1]

सूर्य जब बृहती रेखा पर होता है, तब बृहती छन्द का काल होता है। उसे ही खगोल शास्त्र में विषुवत् रेखा कहा गया है, उस काल में इस पृथिवी पर वसन्त सम्पात होता है, जिसका परिणाम होता है कि दिन और रात दोनों का मान एक जैसा होता है। बृहती रेखा के प्राण ही समशीतोष्ण होने के कारण सृष्टि क्रम में सहायक होते हैं तथा पृथिवी सहित अनेक प्रकार के जीवों की सृष्टि होती है। सभी जीव इसीलिए अपने शरीर की गर्मी के अनुपात में ही प्रजनन करने में सक्षम होते हैं।

जब सूर्य अपने केन्द्र विषुवत् रेखा से उत्तर की ओर चलता है, तब उसे उत्तरायण का काल कहते हैं, उसी समय गायत्री छन्द का काल होता है। इस छन्द में आते ही, अग्नि उष्ण होने लगता है। सूर्य की किरणें पृथिवी पर कुछ पूर्व की अपेक्षा में अधिक पड़ती हैं। इसी काल का नाम वसन्त ऋतु होता है, क्योंकि अग्नि के कण अब विकसित होकर पदार्थों में बसने लग जाते हैं। इन्हीं दिनों चैत्र और वैशाख ये दो महीने होते हैं। वैज्ञानिक नाम-मधु और माधव ये दो तत्त्व इस पृथिवी पर आने लग जाते हैं फलतः पेड़-पौधों में नये पल्लव, मंजरी, फल आदि लगने प्रारम्भ हो जाते हैं। जो इस समय वसन्त ऋतु के यज्ञ का यह विशिष्ट फल है। ज्योतिष के अनुसार मेष और वृष इन दोनों राशियों का काल भी यही है। अब सूर्य

1. वेदविद्या-मधुपर्क-प्रो.लक्ष्मीश्वर झा.

उष्णिक् छन्द की ओर बढ़ता है। इस छन्द पर आते ही उष्णता अधिक बढ़ जाती है और ग्रीष्म ऋतु अपना स्वरूप ले लेता है। ज्येष्ठ और आषाढ़ ये दो माह इसी ऋतुकाल में होते हैं। शुक्र और शुचि ये तत्त्व अधिक मात्रा में पृथिवी पर आते हैं। इसी कारण अन्न, फल, औषधियां, अनेक प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह काल मिथुन और कर्क ये दोनों राशियों का समय है।

ग्रीष्म ऋतु के बाद सूर्य उत्तरायण के अन्तिम छोर पर कर्क राशि पार कर अनुष्टुप् छन्द में पहुचता है। इस समय श्रावण और भाद्रपद दो माह होते हैं। नभ और नभस्व ये तत्त्व आहुत होते हैं। इस समय अग्नि के कण ग्रीष्म काल में रस बनकर आकाश में फैल जाते हैं। फलतः पृथिवी से इन्द्र के द्वारा उन कणों को बहुत अधिक मात्रा में ग्रहण करने के कारण सोम उसे ठंडा कर देता है। जिसके कारण बादल बरसने लगते हैं, इसे वर्षा ऋतु के नाम से जाना जाता है।

ग्रीष्म ऋतु अनुष्टुप् छन्द के बाद सूर्य पुनः बृहती पर आ जाता है, जिसके कारण, बसन्त सम्पात् होता है और दिन एवं रात का मान एक समान 30-30 दण्ड का हो जाता है अर्थात् 12 घंटों के दिन और 12घंटों की रात होती है। सूर्य अपनी स्वाभाविक गति के कारण अब अपने केन्द्र बृहती से दक्षिणायन की ओर चलता है। इस गति के द्वारा पंक्ति छन्द पर आता है, जहां शरद् ऋतु का आगमन होता है। यहां अग्नि के कण शीर्ष अर्थात् क्षीण होने लगते हैं और सोम की मात्रा, अग्नि की क्षीणता के अनुपात में बढ़ने लगती है। इसी समय सह और सहस्य ये दो तत्त्व पृथिवी पर सूर्यमण्डल से आते हैं, जिससे शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाले जीव, फल, अन्न औषधियां उत्पन्न होती रहती हैं। उष्णता की तीव्रता के अभाव में देव प्राणों के साथ पर पितृप्राण का साम्राज्य बन जाता है यही कारण है कि आश्विन कृष्ण पक्ष में पितरों का तर्पण आदि किया जाता है, क्योंकि पितृप्राण थोड़ा ही उष्ण होता है अतः उसे कवोष्ण कहते हैं। इस समय आश्विन और कार्तिक ये दो माह और कन्या राशि, तुला राशि ये स्थिति होती है।

धीरे-धीरे सूर्य दक्षिणायन में आगे बढ़ता हुआ त्रिष्टुप् छन्द पर पहुंचता है, इस कारण अग्नि के कण धीरे-धीरे क्षीण होने लगते हैं और हेमन्त ऋतु का स्वरूप प्रतिष्ठित होने लगता है। इस समय अग्रहण और पौष ये दो माह होते हैं एवं वृश्चिक और धनु राशियों का काल आ जाता है। तप और तपस्य ये दो तत्त्व, इन महिनों में पृथिवी पर आते हैं, अन्त में सूर्य दक्षिणायन के छोर पर पहुंचकर जगती छन्द पर आरूढ़ हो जाता है। अब शीत ऋतु समृद्ध होकर ह्रास की ओर जाने लगता है। अग्नि कण अतिशय क्षीण हो चुके होते हैं, वे जगती छन्द के अन्त में थोड़ा जागृत होने लगते हैं। अग्नि की कुछ वृद्धि होती है, फलतः अनेक प्रकार के जीव-जन्तु, अन्न,

औषधियां उत्पन्न होती हैं। माघ और फाल्गुन दो महीने, कुम्भ एवं मीन ये दो राशियां इसी काल में होते हैं। इसके बाद ही सूर्य पुनः बृहती छन्द पर आ जाता है और एक सौर सम्वत्सर काल पुरुष का स्वरूप सम्पन्न होता है। इसे प्रजापति भी कहते हैं। (शुक्ल.य. 4.24, 7.30, 23.33)

इस प्रकार वेदों में प्राप्त होने वाले छन्द, स्तोम, ऋतु देवता के परस्पर सम्बन्ध का वाचक है और उन सम्बन्धों के संयोग से बनने वाले ऋषि प्राण, देवप्राण, असुरप्राण, पितृप्राण, गंधर्वप्राण एवं प्राजापत्यप्राणों का वर्णन विज्ञान के लिए एक शोध का मंच बनता है, जो सृष्टि के विज्ञान को परमोत्कर्ष तक पहुंचाता है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (79-84) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक साहित्य में हठयोग विद्या

-डॉ. रमेशचन्द्र

सारांश

प्रस्तुत शोधपत्र में वर्णित किया गया है कि हठयोग योग विज्ञान की महत्त्वपूर्ण विद्या है और जिसका विस्तृत विवेचन वेदों, उपनिषदों, पुराणों के अतिरिक्त आयुर्वेद शास्त्र के ग्रन्थों में पाया जाता है।

योग के सभी मार्गो में हठयोग को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है; क्योंकि इसका संबंध मनुष्य के भौतिक शरीर से होता है। सामान्य व्यक्ति हठयोग को हठपूर्वक की जाने वाली योग-प्रणाली समझते हैं, लेकिन यह एक व्यवस्थित साधना पद्धति है। हठयोग में 'ह' का तात्पर्य-प्राणशक्ति, पिंगला नाड़ी, सूर्यस्वर, पुरुष, सक्रियता, उष्णता, बहिर्मुखता, अनुकम्पी स्नायु संस्थान व 'ठ' शब्द का तात्पर्य-मनशक्ति, इडानाड़ी, चन्द्रस्वर, स्त्री, निष्क्रियता, शीतलता, अंतर्मुखता, परानुकम्पी स्नायु संस्थान से है। प्राणशक्ति का संबंध व्यक्ति के शारीरिक कार्य व जीवनचर्या जैसे-श्वसन, पाचन, उत्सर्जन व रक्त परिभ्रमण आदि क्रियाओं को सम्पन्न कराने से है; जबकि मनस शक्ति का संबंध व्यक्ति के मानसिक कार्यो जैसे- जानना, मनन-चिंतन, ध्यान, स्मृति, सत्-असत् विवेक आदि क्रियाओं को सम्पन्न कराने से है। प्राणशक्ति व मन:शक्ति दोनों के संतुलित रूप से कार्य करने पर व्यक्ति का समग्र विकास होता है और जिससे उसके कार्य और व्यवहार भी सुव्यवस्थित ढंग से सम्पादित होते हैं, लेकिन इसके विपरीत अर्थात् दोनों शक्तियों में व्यक्ति के केवल एक ही पक्ष का विकास होता है और यहां तक कि दोनों शक्तियों में अधिक असंतुलन की स्थिति अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोगों को जन्म देती है अत: हठयोग विज्ञान दोनों शक्तियों के मध्य संतुलन और सांमजस्य स्थापित करता है।

वेदों में हठयोग विद्या के संबंध में बात की जाए तो हठयोग परम्परा के मुख्य विषय के रूप में प्रचलित प्राणायाम का प्रयोग प्राचीनतम ग्रंथ ॠग्वेद में वर्णित है। ॠग्वेद के दशम मण्डल में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। एक

जगह प्रयुक्त हुआ है–**"प्राणाद्वायुरजायत"**[1] अर्थात् आदि पुरुष प्राण से वायु प्रकट हुई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में अपान की और भी निर्देश किया गया है।[2] इसी प्रकार अथर्ववेद में प्राणायाम के महत्त्वपूर्ण तत्व 'प्राण' की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है–**"प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यतो भूतः सर्वेश्वरो यस्मिन् सर्वंप्रतिष्ठितम्॥"**[3] **प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्। प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणाति यच्च न॥**[4] 'अर्थात् उस प्राण को नमस्कार है जिसके वश में यह सम्पूर्ण संसार है सब प्राणियों का जो ईश्वर है तथा जिसमें सभी प्रतिष्ठित हैं अर्थात् जिसकी सत्ता से ही सबकी सत्ता है।' 'प्राण पिता है और उसके लिए सारे प्राणी प्रिय पुत्र की तरह हैं। प्राण सम्पूर्ण सृष्टि का ईश्वर है। जो श्वास लेता है और जो श्वास नहीं लेता है अर्थात् जड़-चेतन जगत् दोनों में प्राण विद्यमान है।' इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में ही शरीर में आठ चक्रों व नवद्वारों के संबंध में बताते हुए कहा गया है–**"अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥**[5]**"** अर्थात् इस शरीर रूपी अयोध्यापुरी में आठ चक्र और इसके नौ द्वार हैं; इसमें आत्मा निवास करता है। अतः इस शरीर के माध्यम से योग विद्या के द्वारा नवद्वारों को बदंकर व अष्टचक्रों का ज्ञान प्राप्त करते हुए उस आत्मा को जानना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथित श्लोंक में हठयोग के अन्तिम लक्ष्य आत्मा अर्थात् आत्मज्ञान को जानने के लिए कहा गया है। वेदों में शरीरस्थ नाड़ियों और प्राण आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद की अंकसंहिता मे कहा गया है–**"क्व त्रोचक्रा त्रिव्रतो रथस्य क त्रयो बन्धरो ये सनीलाः। कदा योगो वाजिनो राम्भस्य येन यज्ञं ना सत्योपयाथः॥"**[6] अर्थात् इस मंत्र में शरीर को रथ की संज्ञा दी गई है और कहा गया है- इस शरीर रूपी रथ के मध्य के नीचे चक्र जिनके नाम-मूलाधार, स्वाधिष्ठान व मणिपुर हैं, वे कहाँ है? और उनका स्थान विशेष कौन सा है? यह हमें ज्ञात नहीं है। जीवनधारक कन्दर्प नामक वायु कहाँ है? यह भी हमें ज्ञात नहीं है। तथा सहस्त्र दल कमल सहित ऊपर के तीन चक्र जिनके नाम-अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र हैं। वे कहाँ है? यह भी हमें ज्ञात नहीं है। सर्वशक्तिमान् सर्वसम्पन्न स्व-प्रकाश शिव अर्थात् परमात्म तत्व का स्थान शरीर में कहाँ है? मूलाधार में सोयी हुई कुण्डलिनी शक्ति का परमात्म शिव के साथ लय

1. ऋग्वेद 10.90.13
2. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। ऋग्वेद-10.189.2
3. अथर्ववेद- 11.4.1
4. अथर्ववेद- 11.4.10
5. अथर्ववेद- 10.2.31
6. ऋग्वेद अंक संहिता- 1.34.9

किस समय और किस प्रकार होता है? इसका भी हमें ज्ञान नहीं है। हे परमात्मान्! आपकी असीम कृपा से लययोग संबंधी सभी बातें मुझे ज्ञात हों और आपकी असीम कृपा से मैं इस लययोग का अभ्यास करुं।

इसी क्रम में उपनिषदों के संबध में बात की जाये तो उपनिषदों में हठयोग की चर्चा प्रसंगवश अनेक स्थानों पर हुई है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगी के लिए योगाभ्यास हेतु कौन सा स्थान उत्तम है। इस संबंध में कहा गया है-**"समे शुचौ शर्करा वह्नि बालुका, विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले न तु चक्षुः पीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥"**[1] अर्थात् योगी को समतल के साथ शुद्ध स्थान जो कंकड़, अग्नि, बालू, जल और शब्द (कोलाहल) से रहित हो, वह स्थान मन को प्रिय लगने वाला हो तथा जहाँ आँखों को पीड़ा देने वाली कोई वस्तु न हो। ऐसा स्थान योगाभ्यास के लिए उत्तम है; क्योंकि ऐसे स्थान में योगाभ्यास करने से मन शीघ्रता से एकाग्र होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ही कहा गया हैं– **"लघुत्व-मारोग्यमलोलुपप्वं वर्ण प्रसादं स्वर सौष्ठवं च। गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योग प्रवृति प्रथमां वदन्ति"॥**[2] अर्थात् शरीर का हल्का होना, आरोग्यता, इन्द्रियों की विषयासक्ति की भावना नष्ट होना, नेत्रों को प्रसन्न करने वाली शरीर की कांति, मधुर स्वभाव, शुभ गंध आदि योग प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण के अन्तर्गत आते हैं। इसी भाव को हठप्रदीपिका में हठसिद्धि के लक्षण के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] इसी उपनिषद् में आगे कहा गया है– **"न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः। प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।**[4]**"** अर्थात् योग की अग्नि में तपा हुआ शरीर जिसे प्राप्त होता है, उसे न कोई रोग होता है, न उसे बुढ़ापा आता है और मृत्यु भी उसके वश में हो जाती है।

उपनिषदों में प्राणायाम के महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'प्राण' के संबंध में वर्णन प्राप्त है। प्रश्नोपनिषद् (2/6) कहता है–**"प्राणे सर्व प्रतिष्ठितम्"** अर्थात् प्राण वह तत्त्व है जिसके होने पर ही सबकी सत्ता है। प्रश्नोपनिषद् (2/13) में पुनः कहा गया है–**"प्राणस्येदं वशे सर्वम्"** अर्थात् प्राण के वश में यह सम्पूर्ण जगत् है, एवं **"आत्मन एषः प्राणो जायते"** (प्रश्नोपनिषद् - 3/3) अर्थात् यह प्राण उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से ही उत्पन्न हुआ है।

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2.10
2. वही- 2.13
3. वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले। अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाड़ीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥ ह.प्र. -2.78
4. श्वेताश्वतरोपनिषद्- 2.12

हठयोग के घटक तत्वों में नाड़ी ज्ञान का एक अलग एवं विशिष्ट स्थान है और इसका वर्णन हमें कठोपनिषद् में प्राप्त होता है–जहाँ वर्णित है कि हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियां हैं, जो वहाँ से सब और फैली हुई हैं। उनमें से एक नाड़ी जिसको सुषुम्ना कहते हैं, हृदय से मस्तिष्क की और गयी है। भगवान् के परमधाम में जाने का अधिकारी उस नाड़ी के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर सबसे ऊंचे लोक में अर्थात् परमधाम में जाकर अमृतस्वरूप परमानन्दमय परमेश्वर को प्राप्त हो जाता हैं, वहीं दूसरे जीव दूसरी नाड़ियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासना के अनुसार नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।[1] इसी प्रकार योगशिखोपनिषद् में योग की परिभाषा दी गई है जो हठयोग के ग्रंथों से मेल खाती है। इस परिभाषा के अनुसार–"प्राण व अपान की एकता, स्वरजरूपी कुण्डलिनी शक्ति का स्वरेतरूपी आत्मतत्व या ब्रह्मतत्व के साथ मिलन कराना, सूर्य और चन्द्र स्वरों का मिलन तथा जीवात्मा का परमात्मा से मिलन ये सभी अवस्थायें योग कहलाती हैं।[2]" यह परिभाषा संयोगपरक परिभाषा है। इन सभी युग्मों के मिलन से जीवात्मा अपने स्वरूप को पहचान लेता है तब उसका अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान का उदय हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप उसके सभी दुःख समाप्त हो जाते है। इसी प्रकार हठयोग के अन्तिम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार या आत्मज्ञान की प्राप्ति के संबंध में बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है–**"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"**[3] अर्थात् आत्मा ही जानने योग्य है। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन (ध्यान) का आश्रय लेना चाहिए। इनके द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार संभव है। इस प्रकार उपनिषदों में हठयोग विषयक ज्ञान पर्याप्त मात्र में मिलता है। इसके अतिरिक्त कठोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, योगतत्वोपनिषद् आदि उपनिषदों में योगांगों का वर्णन प्राप्त होता है।

इसी क्रम में पुराणों में भी हठयोग विषयक ज्ञान वर्णित है। जिसका प्रमुख उदाहरण सर्वशिरोमणि भागवतपुराण है। इस पुराण में वर्णित है कि कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार से उठाकर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस पुराण में हठयोग सम्बन्धी क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अग्निपुराण में आसनों के अतिरिक्त युक्त प्राणायाम से लाभ एवं अयुक्त प्राणायाम

---

1. शतं चैका च हृयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमाभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ कठोपनिषद् 2.3.16
2. योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा सूर्यचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनः। एवं तु द्वन्द्व जालस्य संयोगो योग उच्यते॥ योगशिखोपनिषद् 1.133
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.5.6

से होने वाली हानियों की भी चर्चा की गई है।[1] शिवमहापुराण में यम-नियम सहित आठ अंगों का उल्लेख कर संक्षेप में आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के छः अंग माने हैं।[2] इसके अतिरिक्त इस पुराण में आठ आसनों का वर्णन भी मिलता है।[3]

इसी प्रकार वेदों, उपनिषदों व पुराणों के अतिरिक्त यदि प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र के ग्रन्थों का अध्यन किया जाए तो उनमें हठयोग विषयक ज्ञान का उल्लेख प्राप्त होता है। आयुर्वेद शास्त्र की वमन क्रिया तथा अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के षट्क्रमों की प्रमुख गजकरणी क्रिया[4] एवं वमन धौति[5] रूपी उपांग क्रिया में प्रकार भेद होने पर भी मौलिक सामंजस्य यह है कि दोनों क्रियाएं शरीर को कफ-पित्त व इनसे संबंधित रोगों को दूर कर शरीर को स्वच्छ व नीरोगी बनाती हैं। "चरक-संहिता के अध्याय बीस में वर्णित है कि- कफ में वैद्य सम्पूर्ण उपक्रमों में से वमन को प्रधानतम मानते हैं क्योंकि वह आदि से ही अमाशय में अनुप्रविष्ट होकर विकार संबंधी कफ की जड़ को अशेषतः ऊपर खींच लाता है और वहाँ पर कफ के जीते जाने पर शरीर के अन्तर्गत कफ के विकार शान्त हो जाते है।[6]" इसी प्रकार जहाँ घेरण्डसंहिता एवं हठप्रदीपिका में वमन हेतु जल किस प्रकार का होना चाहिए इसको स्पष्ट नहीं किया गया है, परन्तु आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसकी चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि "कफ रोगों में पीपल, मैनफल और सेंधा नमक इनके चूर्ण को गरम जल में, पित्त रोगों में परवल, अडूसा और नीम इनको शीतल जल में तथा अजीर्ण रोगों में गरम जल में सेंधा नमक डालकर वमन करना चाहिए[7] और इन सब वमनों में सेंधा नमक मधु सहित देना हितकर माना गया है।[8] वहीं आयुर्वेद की नस्यक्रिया और अनुवासन बस्ति हठयोग की नेति क्रिया और वज्रोलिमुद्रा के समकक्ष ही है; क्योंकि इन क्रियाओं की विधि एवं इनसे प्राप्त लाभों में कोई

1. सुरेन्द्र कुमार शर्मा- हठयोग: एक ऐतिहासिक परिपेक्ष्य एवं हठयोगप्रदीपिका, पृष्ठ-31
2. शिवपुराण- 7.2.37-14.16
3. स्वस्तिकं पद्मध्येन्दुं वीरं योगं प्रसाधितम्। पर्यङ्कं च यथेष्टं च प्रोक्तमासनमष्टधा॥ वही-7.2.37-20
4. उदरगतपदार्थुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले। क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः॥ ह.प्र.-2.26
5. नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत्। घे.स.-1.39
6. वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्य श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यते भिषजः...चरक संहिता-अध्याय-20.18
7. कृष्णाराठफलं सिंधुकफे कोष्णजलैः पिबेत्। पटोलवासानिम्बैश्च पित्ते शीतं जलं पिबेत्॥ सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत्। अजीर्णे कोष्णपानीयं सिंधुं पीत्वा वमेत्सुधीः॥ योगतरंगिणी-6.19-20
8. वमनेषु च सर्वेषु सैंधवं मधुना हितम्। योगतरंगिणी-6.12

विशेष भेद नहीं है, यदि आयुर्वेद शास्त्रों में वर्णित क्रियाओं में औषधियों को सम्मिलित नहीं किया जाये। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के रूप में प्रतिष्ठित षट्कर्मों[1] को ईसवी शताब्दी से पूर्व तथा उसके कुछ समय बाद के आयुर्वेद ग्रंथों में आये हुए पंचकर्मों[2] में स्थान मिल चुका था। योगासनों के संबंध में चर्चा करें तो "हठयोग के ग्रंथों में मुख्य रूप से वर्णित आसन जिनसें स्थिरता, आरोग्यता एवं लघुता प्राप्त होती है"[3] का वर्णन ईसा पूर्व रचित महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में देखने को मिलता है जहाँ महर्षि पतंजलि ने आसनों से स्थिरता और सुख प्राप्त होने की बात कहीं है।[4] वहीं हठयोग के महत्त्वपूर्ण अंग प्राणायाम से ज्ञान को ढकने वाला आवरण अर्थात् अज्ञान नष्ट होता है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हठयोग विषयक ज्ञान ईसा पूर्व रचित वेदों, उपनिषदों, पुराणों एव आयुर्वेद के ग्रन्थों में देखने को मिलता है। इस प्रक्रिया प्रधान योग परम्परा की प्राचीनता के विषय में यदि हम और चर्चा करें तो–"यह प्रक्रिया प्रधान योग परम्परा भारत देश की एक विशेष देन है। इसका इतिहास भारत का प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित है। सिन्धुघाटी की सभ्यता में उपलब्ध मुद्राओं एवं पद्मासन की स्थिति में उत्कीर्ण किसी देव विशेष का चित्र इस बात का परिचायक है कि यह प्रक्रिया प्रधान योग परम्परा प्रागैतिहासिक काल में भी विद्यमान एवं भारतीय ऋषियों की अक्षय सम्पति थी। श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय भी अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन का सरल परिचय' में इस संबंध में कहते हैं–"सचमुच ये क्रियाएँ बहुत प्राचीन थीं। सिंधु सभ्यता के ठोस ध्वंसावशेष उदाहरण के लिए पत्थर की मूर्तियाँ तथा मुहरों पर अंकित चित्र अकाट्य रूप में इस बात का सूचन करते हैं कि ये क्रियाएँ इस देश में 3000 ईसवीं पूर्व तक भी प्रचलित थीं। कालक्रम से ये क्रियाएँ बहेतु सामग्री जैसी हो गईं जिन्हें तरह-तरह के धार्मिक सम्प्रदायों ने ही नहीं अपितु दार्शनिक सम्प्रदायों तक ने भी अपना लिया था।"[6]

✦✦✦

1. धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते॥ ह. प्र.-2.22
2. वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्। एतानि पञ्च कर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः॥ योगतरंगिणी–9.36
3. कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलावम्॥ ह.प्र.-1.17
4. स्थिरसुखमासनम्। योगसूत्र-2.46
5. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। योगसूत्र-2.46
6. श्रीदेवीप्रसाद चट्टोपाध्याय-भारतीय दर्शन का सरल परिचय, पृष्ठ-180

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (85-88) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

आपस्तम्ब धर्मसूत्र अध्यात्म पटल-एक अध्ययन

-सन्दीप

परोपकारिणी सभा, अजमेर (राजस्थान)

आध्यात्मिक ग्रंथों में मानव जीवन का अत्यधिक सूक्ष्मता से व्याख्यान किया गया है। भौतिक उन्नति के साथ अभौतिक 'आत्मतत्त्व' को भी जानना व जनाना ऋषियों का उद्देश्य रहा है। उपनिषदों में दो मार्ग श्रेय और प्रेय को जीवन का आधार कहा गया है।[1] प्रेय एक ओर लौकिक कामनाओं के विस्तार का क्षेत्र है तो श्रेयमार्ग जीवन को आध्यात्मिकता में उतार देता है। ये दोनों ही कल्याण के मार्ग हैं, जिनका आधार धर्म है। इस सम्बन्ध में महर्षि कणाद मुनि का मत अतिप्रासंगिक है कि सांसारिक सर्वोत्कृष्ट सुख व मोक्षपदीय पूर्णानन्द दोनों ही धर्म के ज्ञाता को प्राप्त होते हैं।[2] वेद में भी यही प्रार्थना की गई है कि हम लोग इष्ट और आपूर्त को प्राप्त हों और ईश्वर मुझ पर चारों ओर से सुख की सदा वर्षा करे।[3]

जीवन का यह अभीष्ट लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है इसी सम्बन्ध में आपस्तम्ब ऋषि ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अध्यात्म नामक आठवें पटल में गहनीय पक्षों को उद्धृत किया है। आपस्तम्ब ऋषि का कहना है कि आध्यात्मिक योग के साधनों का अनुष्ठान अवश्य ही किया जाना चाहिए।[4] जिससे इन्द्रियों के विषयों पर अधिकार प्राप्त किया जा सके। योग के अंगों के अनुष्ठान का फल पातञ्जल योगदर्शन में अशुद्धि-क्षय और ज्ञानदीप्ति कहा है।[5] दोषों के निवारण होने पर ही आत्मलाभ सम्भव है। धर्म-अधर्म दोनों के क्षय होने पर अन्तिम अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति होती है।[6] योग दर्शन में इसे कर्माशय का क्षय होना कहा है।[7] और उपनिषद्

1. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ। कठोपनिषद् 2.2
2. यतोऽभ्युदयनिश्रेयस्सिद्धि स धर्मः। वैशेषिक दर्शन 1.1.2
2. शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः। यजुर्वेद 36.12
4. अध्यात्मिकान् योगाननुतिष्ठेत् न्यायसंहितान् अनैश्चारिकान्। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.1
5. योगाङ्गानुष्ठानात् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः आविवेकख्यातेः। योगदर्शन 2.28
6. दोषाणां च निर्घाते आत्मज्ञानवतः पण्डितस्य धर्माधर्मक्षये क्षेमप्राप्तिरिह। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.1 सूत्र पर आदि शंकराचार्य कृत व्याख्या।
7. ततः क्लेशकर्मनिर्वृत्तिः। योगदर्शन 4.30 पर व्यासभाष्य-तत लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशय समूलघातं हता भवन्ति।

में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि जब उस परमात्मा को जान लिया जाता है तब इस (ज्ञाता) के सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं।[1] किन्तु इस योग्यता से पूर्व अक्रोधादि अवस्थाओं की उपलब्धि होना अत्यन्तावश्यक है।[2] इसके उपरांत ही वह अत्यंत सूक्ष्म शरीर से भिन्न आत्मा को जान पाता है। पुत्र, धन-संपत्ति और ऐश्वर्यादि से कहीं बढ़कर यह आत्मज्ञान है।[3] इससे बढ़कर और कुछ नहीं।[4] वह आत्मा कैसा है? यदि कोई पूछे तो जानना चाहिए कि वह ज्ञानगुण वाला है।[5] प्रकृति के साथ पुरुष का नित्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध से वह उस विवेक को प्राप्त नहीं हो सकता, जिससे आत्मा को जाना जा सके।[6] अर्थात् बाह्येन्द्रिय व्यवहार मात्र के ज्ञान से आत्मा को नहीं जाना जा सकता। जैसे दूध और पानी के परस्पर मेल होने पर मात्र नेत्रों से यह ज्ञात नहीं हो सकता कि दूध कौन सा है? और पानी कौन-सा है?

आत्मज्ञान का महत्त्व उपनिषदों में पदे पदे कथन किया गया है। इस संसार में जो भी पदार्थ इन्द्रियों के विषय बताए गए हैं उन सभी का परित्याग करके विद्वान् व्यक्ति गुहा में स्थित आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्नशील होवे।[7] सभी जीवित प्राणियों के शरीर में अमरणधर्मा, पापरहित, चलायमान शरीर में रहने वाले उस अचल आत्मा को जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।[8] विषयों का त्याग किसलिए आवश्यक है? इसके लिए मुख्य दो कारण शास्त्रकार ने कहे हैं-पराधीनता व अहित। ये दोनों कारण दुख को उत्पन्न करते हैं इन्द्रियों के अधीन होना ही दुख का कारण है।[9] ऐसा होने पर राग आदि बन्धन के कारण सदैव आसक्ति उत्पन्न करते हैं। इसीलिए विद्वान् को विचार करना चाहिए कि वह अन्य वस्तुओं के ऊपर ध्यान न देकर, उस आत्मा को एकाग्रचित्त होकर जाने। इस विचार को दृढ़ करने के लिए

1. भिद्यते हृदय.......क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। मुण्डकोपनिषद् 2.2.8
2. उपपद्यन्ते हि ते (अक्रोधादि) न्यायतः क्रोधादीनां दोषानां निर्घाते। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1. 8.1 पर हरिदत्त मिश्र कृत उज्ज्वला वृत्ति।
3. तदेतत् प्रेयः पुत्राद्। बृहदारण्यकोपनिषद 1.4.8
4. आत्मालाभान्न परं विद्यते। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.2
5. कः पुनरसावात्मा? प्रत्यगात्मा। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.2 पर हरिदत्त मिश्र कृत उज्ज्वला वृत्ति।
6. प्रकृत्या हि नित्यसम्बद्धः पुरुषः। तथाविधश्च सम्बन्धो यथा परस्पर विवेको न जायते। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.2 पर हरिदत्त मिश्र कृत उज्ज्वला वृत्ति।
7. पूः प्राणिनः सर्व एव गुहाशयस्य अहन्यमानस्य विकल्मषस्य अचलं चलनिकेतं ये अनुतिष्ठन्ति ते अमृता। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.3
8. यदिदमिदिहेदिह लोके विषयमुच्यते। विधूय तत् कविः एतद् अनुतिष्ठेत् गुहाशयम्। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.5
9. सर्वं परवशं दुःखम्। मनुस्मृति 4.160

सदैव यह विचार करें कि अब तक धर्म के उपायों को छोड़ अन्य पदार्थों में ही आनंद की इच्छा करता रहा हूँ। अब ज्ञान हो गया है अब वैसा नहीं करुँगा। वह महान् तेजस्वरूप शरीर वाला प्रभु सर्वत्र छिपा हुआ है। उसी का जानना और उपदेश करना ही परम कल्याणकारी है।[1] जो सब भूत प्राणियों में नित्य, सर्वज्ञ, और अमृत के साथ स्थिर है। वह अंग, शब्द, शरीर, स्पर्शादि से रहित महान् और शुद्ध है। वह पराकाष्ठा वाला, सबके बीच वैषुवत् (सत्रयाग के दिन)[2] के समान अनुष्ठान करने योग्य है। ऐसा वह ईश्वर ही शरीर में सेवनीय है।[3] वह परमात्मा जीवों के द्वारा प्राप्त करने योग्य है क्योंकि वही अन्तिम लक्ष्य है, उससे परे और कुछ नहीं है।[4] जो परमात्मा को सर्वत्र जानता है, वह उस एक अद्वितीय परमात्मा में अपनी बुद्धि को स्थिर करके, सदा उसी का आचरण करता है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वह निपुण हो जाता है। उस एक अद्वितीय परमात्मा को जान लेता है, वह संतप्त अवस्था में भी सदा प्रसन्न रहता है।[5] विद्वान् पुरुष सब भूत प्राणियों में आत्मा को देखता हुआ, कभी मोह को प्राप्त नहीं होता तथा इस प्रकार वह सर्वत्र आत्मा को देखता हुआ स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित एवं देदीप्यमान हो जाता है।[6] सर्वज्ञ, परमाणुओं में निवास करने वाला (सूक्ष्म), वह ईश्वर सब को आच्छादित करके ठहरा हुआ है। जो पृथिवी से अधिक भारी है, स्थिर और सबको उत्पन्न करके सब में ठहरा हुआ है। वह इन्द्रिय जगत् से पृथक् है, ऐसा ज्ञान के होने से, एक दूसरे (प्रकृति और पुरुष) को जान लेने पर, वह परमात्मा ही सेवनीय है ऐसा निश्चय हो जाता है। ईश्वर से ही शरीर उत्पन्न होते हैं, वास्तव में वही सबका सनातन मूल है, वही नित्य है।[7] क्रोध आदि दोषों के विनाशक, योग के मूल और अक्रोध आदि उत्तम गुण

---

1. आत्मन्नेवऽहमलब्ध्वै तद्धितं सेवस्व नाऽहितम्। अथाऽन्येषु प्रतीच्छामि साधुष्ठानम् अनपेक्षया। महान्तं तेजसस्कायं सर्वत्र निहितं प्रभुम्। आपस्तम्ब धर्म-1.8.6
2. 361 दिन तक चलने वाले गवामयन सत्र याग में 181 वाँ (मध्य में) दिन विषुवान् नामक दिन होता है। जिसमें कीर्त्याख्य नामक ब्रह्मसाम के गान से परमात्मा को ही गाया जाता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.6 पर आदि शंकराचार्य कृत व्याख्या पर टिपणी।
3. सर्वभूतेषु यो नित्यो विपश्चिदमृतो धुवः। अङ्गो अशब्दो अशरीरो अस्पर्शश्च महाञ्छुचिः। स सर्वं परमा काठा स वैषुवतं स वै वैभाजनं पुरम्। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.7
4. पुरुषान्न परं किञ्चित् सा च काष्ठा सा परा गतिः। कठोपनिषद् 1.3.11
5. तं योऽनुतिष्ठेत् सर्वत्र प्राध्वं चास्य सदाऽऽचरेत्। दुर्दर्शं निपुणं युक्तो यः पश्येत् स मोदेत विष्टपे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.8
6. आत्मन् पश्यन् सर्वभूतानि, न मुह्येत् चिन्तयन् कविः। आत्मानं चैव सर्वत्र य पश्यन् स वै ब्रह्मा नाकपृष्ठे विराजयति। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.9
7. निपुणोऽणीयान् बिसोर्णाया (कमलनाल तन्तु) यस्सर्वमावृत्य तिष्ठति। वर्षीयांश्च पृथिव्या, ध्रुवः सर्वमारभ्य तिष्ठति। स इन्द्रियैर्जगतोऽस्य ज्ञानाद् अन्योऽन्यस्य ज्ञेयात्परमेष्ठो विभाजः। तस्मात् कायाः प्रभवन्ति, सर्वे स मूलं शाश्वतिकः स नित्यः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.10

जानने चाहिए। इस संसार में यह भी देखा जाता है कि सामान्य व्यक्ति क्रोध आदि से व्यवहार करता है। प्रज्ञावान् मुमुक्षुत्त्व स्वभाव वाला क्रोध आदि दोषों को प्रतिपक्ष भावना से हटा देता है। योग शास्त्र में चित्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि विषयों को हटाने के लिए प्रतिपक्ष अर्थात् तद् विपरीत अच्छे पक्ष की भावना करनी चाहिए।[1] जो विद्वान् पुरुष प्राणियों को तपाने वाले इन दोषों को हटाकर योग क्षेम को प्राप्त कर लेते हैं।[2] क्रोध, हर्ष, शोक, लोभ, मोह, दम्भ, द्रोह (किसी के अनिष्ट करने की इच्छा करना), असत्य-भाषण, अति-भोजन, मिथ्या दोष लगाना, दूसरे के गुणों से जलना, काम, द्वेष, इन्द्रियों को वश में रखना, मन को समाहित न करना, यह मनुष्यों के विनाश करने वाले दोष हैं। इन्हें योग के द्वारा ही हटाया जा सकता है।[3] तथा क्रोध हीनता, हर्ष का अभाव, रोश न करना, अलोभ, मोह का अभाव, दम्भ का न होना, द्रोह न करना, सत्य-वचन, भोजन में संयम, परदोष कथन से विमुख होना, असूया का अभाव, स्वार्थहीन, उदारता, दान न लेना, सरलता, कोमलता, भावावेगों का शमन, इन्द्रियों को वश में करना, सभी प्राणियों के साथ प्रेम व्यवहार, आध्यात्मिक चिंतन में मन को लगाना, आर्यों के नियमों के अनुसार आचरण, क्रूरता का त्याग, संतोष, इन सभी उत्तम गुणों का विधान चारों आश्रमों के लिए समय और स्थान के अनुसार अवश्य ही किया जाना चाहिए जो इस प्रकार आचरण करता है वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[4]

एक मात्र उस ईश्वर को जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है इससे भिन्न कोई दूसरा मार्ग आनन्द को प्राप्त होने का नही है।[5] इस प्रकार एक मात्र परमात्मा ही उपास्य और इष्ट कामना को पूरा करने वाला है।

✦✦✦

1. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। योगसूत्र 2.33
2. दोषानां तु निर्घातो योगमूल इह जीविते। निर्हृत्य भूतदाहीयान् क्षेमं गच्छति पण्डितः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.11
3. क्रोधो हर्षो रोषो लोभो मोहो दम्भो द्रोहो मृषोद्यम् अत्याशपरीवादौ असूया काम मन्यु अनात्म्यमं योगः तेषां योगमूलो निर्घातः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.13
4. क्रोधोऽहर्षोऽरोषोऽलोभोऽमोहोऽदम्भोऽद्रोहः सत्यवचनमनत्याशो अपैशुनमनसूया संविभागस्त्याग आर्जवं मार्दवं शमो दमः सर्वभूतैरविरोधो योग आर्यमानृशंसं तुष्टिरिति सर्वाश्रमाणां समयपदानि तान्यनुतिष्ठन् विधिना सार्वगामी भवति। आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.8.14
5. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय। यजुर्वेद 31.18

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (89-97) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति तत्त्व

डॉ० सन्दीप कुमार चौहान
कनखल, हरिद्वार

प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा जब इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता, तब वेद ही हमारा सहायक बनता है। वेद का वेदत्व इसी में निहित है कि वह अलौकिक उपाय का ज्ञान कराता है। ब्राह्मण ग्रंथ वेद की व्याख्या करने वाले हैं, जिनमें ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है।

ऋग्वेद दिव्य शक्तियों की स्तुति का वेद हे, ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही निम्नांकित शब्द आते हैं–

"ओ३म् अग्निर्वै देवानाम् अवमः विष्णुः परमः,
तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।"

दिव्य शक्तियों में सबसे नीचा स्थान अग्नि का है और सबसे उत्तम स्थान विष्णु का है। यद्यपि अग्नि और विष्णु शब्द पृथ्वी की अग्नि और द्यौलोक के सूर्य के वाचक हैं, तथापि दोनों शब्द एक परमात्मा का अर्थ भी देते हैं और ऐसी दो कोटियों के प्रतिपादक है, जिनके बीच में इन्द्र, वायु आदि सभी प्रधान देवता सुरक्षित रहते हैं। जो मध्य में रहता है, वह अपनी अधम और परम दोनों कोटियों के द्वारा गृहीत होता है। अतः अग्नि और विष्णु के बीच में आने वाले देवता भी उनसे पृथक् नहीं कहे जा सकते। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मणकार कहता है–

"अग्निर्वै सर्वादेवताः। विष्णु सर्वा देवताः।"

यास्क ने निरुक्त में यह भी लिखा है कि एक ही आत्मा विभिन्न देवताओं के नामों से स्तुत हुई है[1], अर्थात् अग्नि, विष्णु, इन्द्र आदि नाम उसी एक परम तत्त्व

---

1. महाभाग्यात् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनो त्वन्ये देवा प्रत्यंगानि भवन्ति।।
तुलना करें– एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद 1/164/46

की व्याख्या करने वाले हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन यज्ञों का विवरण प्रस्तुत किया गया है, वे भी मूलतः इसी परमतत्त्व की व्याख्या करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के शब्दों में–

"प्रजायते प्रजया पशुभिः य एवं वेद।"

जो ऐसा जानता है, वह प्रजा और पशुओं द्वारा समृद्ध होता है। यज्ञकर्ता दीक्षित होकर जब यज्ञ का प्रारम्भ करता है, तब वह सर्वप्रथम उस परमतत्त्व के वाचक ओ३म् नाम का उच्चारण करता है। यदि कार्यकत्ताओं से किसी प्रकार की त्रुटि हो जाती है, तो वह पुनः उच्च स्वर में ओ३म् का नाम उच्चारण करता है। यज्ञों में जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उनकी निरुक्ति करता हुआ ऐतरेय ब्राह्मणकार कहता है–

"आहुतयो वै नाम एता यत् आहुतयः एताभिर्वै
देवान् यजमानो ह्वयति, तत् आहुतीनाम् आहुतित्वम्॥" (1/2)

अर्थात् आहुतियों का नाम आहुति इसलिए है कि इनके द्वारा यजमान दिव्य शक्तियों का आह्वान करता है। दिव्य शक्तियों का आह्वान स्वतः दिव्यता की ओर ले जाने वाला है। भक्तिकाण्ड भी मानव की इसी सिद्धि का सर्वश्रेष्ठ उपाय है और वह यज्ञ के अन्दर सम्मिलित है।

आचार्य सायण लिखते हैं–

"ईदृशं यजनं यदस्ति तत् क्रियमाणस्य यज्ञस्य अदिति द्वारा देवेषु प्रज्ञा नाय सम्पद्यते। तच्च देवप्रज्ञानं यजमानस्य स्वर्गलोकावगमाय भवति।"[1]

यज्ञ की प्रक्रिया वास्तव में देव–प्रज्ञान के लिए ही है। यह देवप्रज्ञान सुख विशेष की ओर ले जाने वाला है। भक्तिकाण्ड भी आनन्दमयकोश के साथ सम्बन्ध रखने वाला ही है।

यज्ञ में जप का विधान भक्ति काण्ड की ही भांति है। ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भ में ऋषि लिखता है–

"होतृ जपं जपति...... उपांशु जपति।"[2]

सायण ने इसकी व्याख्या में लिखा है–

"होतुः कर्त्तव्यो यो जपः तम् अनुतिष्ठेत् औष्ठस्पन्दनं एव परे दृश्यते न तु शब्दः श्रूयते तादृशं उपांशुत्वं तस्य जपस्य शोंसावो३म् इति एतस्मात् आहावात् पूर्वभावित्वं विधत्ते।"

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण – 2/8 की भूमिका, आचार्य सायण
2. ऐतरेय ब्राह्मण – 10/6

ओंकार के जप का विधान ब्राह्मण-युग की विशेषता कही जा सकती है। उपासना में जिस प्रकार दिव्य तत्त्व का ध्यान किया जाता है, उसी प्रकार यज्ञ के अंदर भी करना पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही लिखा है-

"यस्य देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् ताम् ध्यायेत्।"[1]

जिस देवता के लिए हवि दी जाती है, उसी देवता का ध्यान करना चाहिए। आचार्य सायण ने इसके भाष्य में लिखा है- देवता अर्थात् दिव्य शक्ति आंखों से दिखाई नहीं देती। अतः उसका मानस प्रत्यक्ष करना विवक्षित है, जो ध्यान द्वारा ही सम्भव है।

ऐतरेय ब्राह्मण के 25वें अध्याय के सप्तम खण्ड में ओ३म् की उत्पत्ति और उसकी महत्ता वर्णित हुई है। प्रजापति ने कामना की- "मैं प्रजा उत्पन्न करूँ और बहुत हो जाऊँ।" उसने तप किया और तप करके पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को उत्पन्न किया। तीनों लोकों के तप्त होने से तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुई। पृथ्वी से अग्नि, अंतरिक्ष से वायु और द्यौलोक से आदित्य। पुनः इन तीन ज्योतियों के तप्त होने से तीन वेद उत्पन्न हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद उत्पन्न हुआ। तीनों वेदों के तप्त होने से तीन शुक्र उत्पन्न हुए। ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः और सामवेद से स्वः। इन तीन शुक्रों के तप्त होने पर 'अ' कार 'उ' कार और 'म' कार तीन वर्णन उत्पन्न हुए, जिनका एकधा समीकरण ओ३म् कहलाता है। यह ओंकार स्वर्ग-प्राप्ति का हेतु है।

शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद के मंत्रों और शब्दों की व्याख्या करता है। यथा- **"मेध्या वा आपः। वज्रोवा आपः। योषा वा आपः। ज्योतिर्वैहिरण्यम्। अमृतं हिरण्यम्।"** निरुक्तकार ने इस प्रकार की गुण-कल्पना को भक्ति नाम दिया है।[2]

यह एक प्रकार की शब्द-भक्ति कही जा सकती है। जैसे भक्तिकाण्ड में प्रभु के नाना गुणों को लेकर स्तुति की जाती है, वैसे ही यहाँ शब्द की स्तुति है। स्तुति का अर्थ ही गुणकथन है। अतः गुण-कल्पना की क्रिया में स्तुति का मूल अर्थनिहित है। शतपथ ब्राह्मण में यह गुण-कथन बाहुल्य से पाया जाता है।

यजुर्वेद कर्मकाण्ड का वेद है। अतः उसके ब्राह्मण में भी याज्ञिक कर्मकाण्ड की ही प्रधानता है। विविध प्रकार के यज्ञ विपुल विवरण के साथ इस ब्राह्मण में वर्णित हुए हैं। शतपथ ब्राह्मण के हविर्यज्ञ नामक काण्ड के प्रारम्भ में ही इस

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण - 11/8
2. द्रष्टव्य - निरुक्त - 7/7/24

व्रतोपायन तथा पवित्रीकरण का उल्लेख हुआ है। भक्तिकाण्ड के लिए ये दोनों ही कार्य सुदृढ़ भूमिका का निर्माण करते हैं।

भक्ति-मार्ग का भी यह परम पवित्र सोपान है। भक्त देवों के देव प्रभु के निकट पहुँचने का ही तो प्रयत्न करता है।

अयं वै पवित्रं योऽयं पवते।
... सोऽयं पूरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च।[1]

"यही पवित्र है, जो पावन कर रहा है। वह पुरुष के अन्दर प्रविष्ट है, सामने भी है और पीछे भी।"

जैसे प्राण अन्दर जाता है, अपान बाहर निकलता है, व्यान सर्वांग में व्याप्त है, वैसे ही परमदेव अन्दर बाहर, सामने, पीछे सर्वत्र व्याप्त है। प्राण शरीर को पवित्र करता है। परमदेव आत्मा को पवित्र करते हैं। अतः शतपथ ब्राह्मण की उक्ति भक्तिकाण्ड के निकट ही है।

वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये।
तमिन्द्रो जघान॥[2]

जो आत्मा को चारों ओर से आच्छादित कर लेता है, उसे पाप से आवृत बनाता है, वही वृत्र है। इस उक्ति के अनुसार पाँचों कोष ही वृत्त है। आत्म-साक्षात्कार ही पाँच कोषों को ऊपर पड़े रहने से हटाता है। यजमान जैसे-जैसे यज्ञ को आगे बढ़ाता है, वैसे-वैसे वह इस वारक वृत्र से त्राण पाता जाता है। भक्ति काण्ड भी इस रूप में यज्ञ ही है।

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ की बड़ी महिमा है। लिखा है- **"अथ महावीर्यो यो यज्ञं प्रापद्"** जो यज्ञ को प्राप्त करता है, वह महावीर्यवान् है। फिर लिखा है **"ब्राह्मण अस्य यज्ञस्य प्रावितारः"**[3] ब्राह्मण इस यज्ञ के रक्षक हैं। वही इसको प्रकट करते हैं और वही इसका विस्तार करते हैं।

यज्ञ के समय किसी से द्वेष करना पाप माना गया है। लिखा है-

"तद्वै देवानामाग आस! कनीयः इत् नु अतो द्विषन्।"[4]

---

1. शतपथ ब्राह्मण - 3/2
2. शतपथ ब्राह्मण - 3/4-5
2. शतपथ ब्राह्मण - 1/4/2/12
4. शतपथ ब्राह्मण - 1/4/6/4

जो द्वेष करता है, वह 'कनीय' है, निकृष्ट है। वह देवताओं के प्रति पाप करता है। द्वेषी व्यक्ति के अन्दर दिव्य शक्तियाँ प्रविष्ट नहीं हो पाती। वह दिव्यता से वंचित हो जाता है। भक्तिकाण्ड में भी द्वेष पर विजय प्राप्त करने की परम आवश्यकता है। भक्त के पास यह अमूल्य साधन के रूप में रहती है। भक्तिकाण्ड की पूजा-पद्धति द्वेष-भाव को भी दूर कर देती है। लिखा है **: "ते अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः**[1] मानव जब परमदेव की अर्चना करता है और पर्याप्त परिश्रम करता है, तब उसे द्वेष पर विजय प्राप्त होती है। पवित्र प्रभु तक पहुँचने के ये साधन अपना विशेष मूल्य रखते हैं। अर्चना भक्ति का ही अंग है।

भक्ति का मार्ग प्रियत्व अथवा प्रेम का मार्ग है। श्रद्धा इसका मुख्य अंग है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है-

"अहं वः प्रियो भूयासम् इत्येव एतदाह।"[2]

यह देवों का प्रेम भाजनत्व कैसे प्राप्त होगा? याज्ञवल्क्य यजुर्वद की ऋचा इसके पूर्व उद्धृत करते हुए लिखते हैं-

"उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि[3] नमः एव अस्मा एतत् करोति। **यथा एनं न हिंस्यात्।"** जिससे देवों का प्रेमभाव सार्थक या याज्ञिक के प्रति बना रहे, इसी हेतु प्रति प्रातः और सायं साधक प्रभु के आगे प्रणत होता है। प्रणति, नमस्कार का भाव मानव को अहन्ता और दम्भ से बचाता है तथा हिंसावृत्ति से दूर रखता है। इस प्रकार उसके अन्दर निरभिमानता, जो देवी-सम्पदा है, बनी रहती है। याज्ञवल्क्य ने इस स्थल पर प्रार्थना विषयक और भी कई मंत्र उद्धृत किये हैं। जैसे-

"ये देवा मनो जाता मनोयुजो दक्षक्रतवः।
ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा।"[4]

मनन से उत्पन्न, मनन के साथ संयुक्त, यज्ञ करने में दक्ष जो देव हैं, वे हमारी रक्षा करें, हमें पवित्र करें। उनके लिए मैं त्याग-व्रत की दीक्षा लेता हूँ।

प्रार्थना की भावमयिता से याज्ञिक का शरीर यज्ञिय हो जाता है।[5] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो यज्ञकर्ता दीक्षित होकर व्रतविहीन वा व्रत-बाह्य बातें करता है,

---

1. शतपथ ब्राह्मण - 1/5/1/3
2. तदेव - 1/6/1/1
3. 3/22
4. यजु. 4/11
5. यजु. 4/13

या क्रोध करता है, वह व्रत का विनाश करता है। दीक्षित को अक्रोध होना चाहिए। भक्त भी भक्ति की दीक्षा में इसी पथ का पथिक होता है।[1]

शतपथ ब्राह्मण में ओ३म्[2] का वर्णन है। यह जो द्यावा पृथ्वी के बीच में सरसता है, वह कहाँ से आयी? यह समस्त प्रजा जिससे रसवती है, जिसके जीवन-से-जीवन ग्रहण करती है, वह कौन है? **"स वै ओ३म्"** वह ओ३म् है। **"तद्धि सत्यम्"** वह निश्चित रूप से सत्य है। **"तद्देवा विदुः"** उसे देव जानते हैं। **तस्मात् 'ओ३म्' प्रतिगृणीयात्**[3]**,** अतः ओ३म् की ही स्तुति करनी चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण के भक्ति-सम्बन्धी जो वाक्य ऊपर उद्धृत किये गये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि यह ब्राह्मण भक्ति के कतिपय अंगों का विशद् वर्णन करता है। द्वेष से दूर रहना, सबसे प्रेम करना, दिव्यता और पवित्रता की ओर प्रयाण करना, ओ३म् तथा मंत्रों का जाप करना, व्रत-परायण बनना, आत्मतत्त्व को प्राप्त करना, यज्ञ करना, क्रोध न करना आदि ऐसे साधन हैं, जो भक्ति के अनिवार्य अंग कहे जा सकते हैं। याज्ञिक कर्मकाण्ड का विस्तृत विवरण देते हुए भी, शतपथ ब्राह्मण, इस प्रकार, भक्ति-काण्ड की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है।

सामवेद के आठ ब्राह्मणों में आर्षेय ब्राह्मण की गणना है। किसी-किसी के मत में प्रौढ़, षड्विंश और मन्त्रोपनिषत् तीनों मिलकर छन्दोग्य ब्राह्मण कहलाते हैं, जिसमें 40 प्रपाठक हैं। सामविध, आर्षेय, दैवत, संहितोपनिषद् और वंश नाम के पाँच ब्राह्मण सामवेदीय अनुब्राह्मण कहलाते है।

इसके प्रथम प्रपाठक में ओ३म् की महिमा इस प्रकार वर्णित हुई है-

"अथातः उपदेशः ओम् इति एतत् परमेष्ठिनः प्राजापत्यस्य साम। परमेष्ठिनो वा ब्राह्मणस्य ब्रह्मणो वा ब्रह्मवाचो वा सत्यं साम। स्वर्गस्य वा लोकस्य द्वारविवरणं देवानां वा ओकस्त्रयस्य वा वेदस्य आप्यायनम्।"[4]

सायणाचार्य इसके भाष्य में लिखते हैं-

प्रणव वेदत्रयी का सार है। वेदों का अन्तिम रूप सामवेद है उसके आदि में प्रयोक्ताव्य होने से ओ३म् ऐसा गाया जाता है। प्रजापति हिरण्यगर्भ है। अतः उसका पुत्र परमेष्ठी प्राजापत्य कहलाता है। उससे सम्बन्धित साम ओ३म् है अथवा सर्व जगत् के कारण परमात्मा को ब्रह्म कहते हैं, उसके पुत्र परमेष्ठी ब्रह्म कहा जाता है।

---

1. तदेव - 3/2/1/24
2. तदेव - 4/2/6/12
3. तदेव - 4/2/6/13
4. आर्षेय ब्राह्मण - प्रथम प्रपाठक

उसी का स्वभूत साम ओ३म् है। अथवा ओ३म् ब्रह्म का ही साम है, अथवा ब्रह्म का अर्थ वाणी हे, ब्रह्म की ही भाँति उसकी वाणी है। अत: ओ३म् शब्द ब्रह्म सम्बन्धी साम है, इस साम की संज्ञा प्रणव है।

आर्षेय ब्राह्मण के अन्त में देव-व्रत, सोम-व्रत, दीर्घतमस-व्रत, पुरुष-व्रत, दिया-व्रत, कश्यप-व्रत, आदित्य-व्रत आदि व्रत दिये हैं सामवेदीय व्रत अन्य व्रतों में विशिष्ट हैं। इनका सम्बन्ध गानों से है। आदित्य व्रत वह साम हे, जो शाण्डिलीपुत्र के मत से 21 बार और वार्ष्यायणी पुत्र के मत से 22 बार गाया जाता है। कश्यप-व्रत दशानुगान का होता है। पुरुष-व्रत दो प्रकार का है- पंचानुगान और एकानुगान। दिशाव्रत दशानुगान होता है।

सामवेद उपासना का वेद कहा जाता है। इसके प्रारम्भिक मन्त्र कतिपय सृष्टि-विद्या सम्बन्धी मन्त्रों को छोड़कर, प्राय: सबके सब उपासना से सम्बन्ध रखते हैं। सामवेद के कई ब्राह्मण हैं। आर्षेय ब्राह्मण प्रणव, ओंकार तथा उद्‌गीथ की मुक्तकण्ठ से स्तुति करता है। उसने उद्‌गीथ की उपासना-विधि का भी उल्लेख किया है। इस विधि के अनुकूल जाप करने वाला लोक तथा परलोक दोनों में समादृत होता है और उस परम सत्ता के समीप बैठने का श्रेय भी उसे मिलता है।

साधक का ज्ञान जब भावना का रूप धारण करता है और उसमें अपने सर्वस्व को भगवान् के चरणों में समर्पित कर देने की आकांक्षा जागृत हो उठती है, तो उसके आन्तरिक रूप में संकोच के स्थान पर विस्तार आ जाता है। रोग में भी कुछ इसी प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। भक्ति-भावना इसी हेतु संकोच से हटकर विशाल और उदार रूप धारण करती है। सामवेद जो ऋग्वेद की ऋचाओं से कई गुना बढ़कर बोला जाता है और उसका एक-एक शब्द दूर- दूर तक अनेक वर्णो और मात्राओं में फैल जाता है- उसका यही कारण विशेष है। ज्ञानी के समक्ष भक्त की महत्ता भी इसी हेतु अधिक है।

गोपथ ब्राह्मण में अन्य ब्राह्मणों की भाँति वेद और यज्ञ के विषय ही प्रमुख रूप से वर्णित हुए हैं। यज्ञ-सम्बन्धी विवरणों के साथ इस ब्राह्मण ने गायत्री का जाप, ओ३म् को सहस्र बार जपने की महिमा तथा प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में ओ३म् का उच्चारण करने का आदेश दिया है। भगवान् में विश्वास रखने वालों का महत्व, यज्ञों के अन्दर भी आत्मिक यज्ञ से आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति[1] स्तोत्रों द्वारा मृत्यु का

1. आचार्य सायण ने इसके भाष्य में किसी स्मृति का निम्नांकित श्लोक उदधृत किया है-
अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं विनियोगकम्।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु स:।।

पराभव[1] आदि कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं, जिन्हें भक्तिकाण्ड के अन्तर्गत स्थान प्राप्त हो सकता है।

"तत् एतत् अक्षरं ब्राह्मणो यं कामम् इच्छेत् त्रिरात्रोपोषितः प्राङ्मुखो वाग्यतो बर्हिषि उपविश्य सहस्रकृत्वा आवर्तयेत् सिद्ध्यन्ति अस्य अर्थाः सर्वकर्माणि च"[2]

जो इस एकाक्षर अविनाशी ओ३म् नाम की ऋचा का एक सहस्र बार कुशासन पर बैठकर, पूर्व की ओर मुख किए, वाक् संयम-सहित तथा तीन रात्रि तक उपवास करता हुआ जप करता है, उसके समस्त अर्थ और काम सिद्ध होते हैं।

प्रपाठक 5 की कण्डिका 12, 13 और 14 में प्रातः माध्यन्दिन और तृतीय सवन की कुछ स्तुतियाँ दी हुई हैं, जो विशुद्ध रूप से भक्तिपरक हैं। इन्हें हम नीचे उद्धृत करते हैं-

"श्योनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनुत्त्वा आरभे स्वस्ति मा संपारय।

हे सोम! अपनी शक्ति से समवेत परमात्मन्! आप गायत्रच्छन्द अर्थात् गेय अथवा स्तुतियोग्य और आनन्दपूर्ण हैं। आप परम ज्ञानरूप सामर्थ्य रखते है। मैंने आप ही का सहारा लिया है। आप कल्याण के साथ मुझे पार लगा दें।

गोपथ में लिखा है-

"अमृतं वै प्रणवः अमृतेनैव तत् मृत्युं तरति.....
ब्रह्म ह वै प्रणवः ब्रह्मणा एव अस्मै तद् ब्रह्म उपसन्तनोति।"[3]

प्रणव, सदैव अभिनव बना रहने वाला ओंकार, अमृत है। इसी प्रणव ओ३म् के द्वारा साधक मृत्यु को पार करता है। प्रणव, ओ३म् सबसे बड़ा है। इसी महान् ब्रह्म के द्वारा प्रभु का ज्ञान चारों ओर फैलता है। अर्थात् ओंकार समस्त ज्ञानों की निधि और स्रोत हैं। प्रजाकाम तथा प्रतिष्ठाकाम मानव प्रणव की ही उपासना करते हैं।

गोपथ में सामवेद को सब वेदों का रस कहा गया है। सामवेद उपासनाकाण्ड का वेद है। उसे सब वेदों का रस कहने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि गोपथ ब्राह्मण का रचयिता भक्तिकाण्ड को ज्ञानकाण्ड का सार समझता है, अथवा नीरस ज्ञानकाण्ड में यदि सरसता का संचार किसी प्रकार से होता है, तो वह प्रकार भक्ति या उपासना ही है।

---

1. गोपथ ब्राह्मण प्रपाठक - 5-8
2. गोपथ ब्राह्मण - 1/22
3. उत्तर भाग प्रपाठक 3, कण्डिका - 11

"अथो सर्वेषाम् वा एषः वेदानां रसः यत् साम, सर्वेषामेव तत् वेदानां रसेन अभिषिंचति।"[1]

इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भक्तिकाण्डपरक जो पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें प्रभु के ओ३म् नाम का तथा उसके जाप का महत्व प्रतिपादित हुआ है। भक्ति को ज्ञान का रस कहना केवल तथ्य पर ही प्रकाश नहीं डालता, याज्ञिकों की भक्ति के सम्बन्ध में प्रगाढ़ आस्था को भी प्रकट करता है।

चारों वेदों से सम्बन्धित चार ब्राह्मणों की जो भक्ति विषयक सामग्री हमने इस उप अध्याय में दी है, वह अपने-अपने वेद के अनुकूल ही है। ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का ब्राह्मण है और ज्ञानकाण्ड से सम्बद्ध है। अतः उसमें भक्तिकाण्ड से सम्बन्धित सामग्री का प्रायः अभाव है।

शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद के साथ सम्बद्ध है, जो कर्मकाण्ड का वेद है और श्रेष्ठतम कर्म करने का आदेश देता है। कर्म अपने सूक्ष्मरूप में ज्ञान और उपासना दोनों के अन्दर निहित है। उसकी स्थिति दोनों के बीच में है। अतएव वह दोनों ओर जाता है और दोनों के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करता है। शतपथ ब्राह्मण भी इसी हेतु ज्ञान तथा उपासना दोनों काण्डों की सामग्री रखता है। उसमें दी हुई निरुक्तियां तथा कुछ आख्यायिकाएं ज्ञान काण्ड का उद्घाटन करती है। उपासना सम्बन्धी सामग्री भी उसमें पुष्कल हैं, जो यथा स्थान दी जा चुकी है। सामवेद के ब्राह्मण में उपासना का रूप स्पष्ट हो चुका है। गोपथ ब्राह्मण भक्ति को ज्ञान का रस कहकर इस सम्बन्ध में सामवेद की प्रतिष्ठा को ही वर्द्धमान करता है।

✦✦✦

---

1. उत्तर भाग प्रपाठक 5, कण्डिका - 7

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (98-108) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित यज्ञ का स्वरूप
(पं. बुद्धदेव कृत भाष्य के आलोक में)

-डॉ० विपिन बालियान

संहिता और ब्राह्मण दोनों को आर्ष जगत् में वेद नाम से जाना जाता है। वास्तव में संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ दोनों को वेद नाम दिया गया है। किन्तु वास्तव में ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं कहलाते। केवल संहिता भाग ही वेद कहलाता है। जैसे राम के वंश में उत्पन्न हुए लोगों को उपचार से राम कह दिया जाता है, वैसे ही वेद से सम्बन्धित होने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद कह दिया गया है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थ ही वेद होते तो **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"**[1] ये न कहा जाता। चूंकि मन्त्र और ब्राह्मण दो पृथक्-पृथक् शब्द है, इसलिए दोनों शब्द पृथक् ही माने जाने चाहिए। जैमिनी के अनुसार-वेद के मन्त्रावशिष्ट अंश ब्राह्मण हैं। **"शेषे ब्राह्मण शब्दः"**।[2] ब्राह्मण शब्द विशेषतः नपुंसकलिंग में ही प्रयोग किया गया है। **"ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्"**।[3] तैत्तिरीय संहिता में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग सबसे प्राचीन मिलता है। **"एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हविषि"**।[4] निरुक्तकार आचार्य यास्क ने **"बहुभक्तिवादिनी ब्राह्मणानि भवन्ति"**।[5] महर्षि दयानन्द ने भी **"ब्रह्मणो व्याख्यानानि ब्राह्मणानि"** लिखकर उपरोक्त प्रसंग को पुष्ट किया है।[6] ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण होने की पुष्टि भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में की है। **"ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थाः"**[7] अर्थात् ब्राह्मण नाम कर्म का है। महर्षि व्यास द्वारा प्रणीत वेदान्त दर्शन का प्रतिपाद्य विषय ही ब्रह्म है। इसके प्रथम सूत्र में ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है और दूसरे सूत्र में ब्रह्म की शक्ति का प्रतिपादन करते हुए कहा है-**"जन्माद्यस्य यतः"** अर्थात् जिससे जगत् की उत्पति, स्थिति और प्रलय

---

1. आपस्तम्ब यज्ञ भाषा सूत्र-1/33
2. जैमिनी सूत्र-2/1/33
3. मेदिनी कोष
4. तैत्तिरीय संहिता-3/7/1/1
5. निरुक्त-7/24
6. अनुभ्रमोच्छेदन, पृ०-6, बनारस संस्करण-1937
7. तैत्तिरीय संहिता-1/5/1

हो, वह ब्रह्म है।[1] इन ग्रन्थों में ब्रह्म का वर्णन होने से इनका नाम ब्राह्मण पड़ा।

ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों के विनियोजक होते हैं। विनियोजक का अर्थ है किन-किन मन्त्रों का प्रयोग किस-किस यज्ञ में होना चाहिए। इसका निर्धारण ब्राह्मण ग्रन्थ करते हैं। वेद वस्तुतः क्रियार्थक हैं। अर्थात् यज्ञरूप क्रिया के लिए इनका विनियोग किया जाता है। जो मन्त्र क्रियार्थक नहीं होते उन्हें अनर्थक माना जाता है। यह बात स्वयं महर्षि जैमिनी कह रहे हैं।[2] इस दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों की सार्थकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का अपना कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं होता वे केवल मन्त्रों का विनियोग करते हैं। योग, नियोग, विनियोग और प्रयोग। इन शब्दों के सूक्ष्म अन्तर को समझने वाले विद्वान् ही वास्तव में ब्राह्मण ग्रन्थों का वास्तविक अर्थ जान सकते हैं। ऐतरेयब्राह्मण सोमयाग में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का विनियोग करता है। जो याज्ञिक सोमयाग द्वारा अपने इष्ट पदार्थों की प्राप्ति करना चाहते हैं। उन्हें अग्नि और विष्णु देवता को लक्ष्य करके सोमयाग से यजन करना चाहिए।

शतपथब्राह्मण यजुर्वेद के माध्यन्दिन और कण्व दोनों शाखाओं से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थ है। चूंकि यजुर्वेद में यज्ञविद्या का सांगोपांग विवेचन किया गया है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञों का विधि विधान ही प्रतिपादित है । इसके कर्त्ता तथा ज्ञाता याज्ञवल्क्य को माना जाता है। किन्तु इसकी व्याख्या याज्ञवल्क्य के ही किसी शिष्य ने की है, ऐसा इसकी विषयवस्तु से अनुमान किया जाता है। किन्तु मेरी दृष्टि में शतपथब्राह्मण में जिस यज्ञ के विधि-विधानों का प्रतिपादन किया गया है वह कोई लौकिक यज्ञ नहीं हो सकता। प्रायः आजकल लौकिक अग्नि में मन्त्रों को पढ़कर आहुति देने को ही यज्ञ मान लिया गया है जिसे अग्निहोत्र नाम से जाना जाता है। किन्तु शतपथब्राह्मण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह ब्राह्मण लौकिक अग्निहोत्र का प्रतिपादन नहीं करता। अपितु ब्रह्माण्ड में अहर्निश चल रहे प्राकृतिक नित्ययज्ञ का प्रतिपादन करता है। यह जो हम आचमन करना, अग्न्याधान करना, वेदि बनाना, समिधाओं और घृत का यज्ञकुण्ड में होम करना आदि कार्य करते हैं, यह वास्तव में उस नित्ययज्ञ का अभिनय मात्र है।

सृष्टि में जो नित्य प्रति यज्ञ प्राकृतिक रूप से चल रहा है, उसका अभिनय हम लौकिक अग्निहोत्र के द्वारा कर रहे हैं, वास्तव में यह यज्ञ नहीं है। यज्ञ में 'यज' धातु के तीन अर्थ व्याकरण शास्त्र के अनुसार समाविष्ट हैं-जो कि इस प्रकार हैं देवपूजा, संगतिकरण और दान। गुरु, आचार्य, माता-पिता, ऋषि, अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि देवों में श्रद्धा रखना, उनकी सेवा करना, और सत्पुरुषों के बताये हुए आचरण

---

1. वेदान्त दर्शन-1/2
2. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम्, जैमिनी सूत्र-1/1

पर चलना देवपूजा है। परस्पर मिलकर चलना, मिथुन बनकर व्यवहार करना और लोककल्याण के लिए देवों के साथ मिलकर चलना संगतिकरण है। तथा स्वार्थ को छोड़कर निष्पक्षभाव से विद्या, धन, ऊर्जा देकर लोक कल्याण करना दान कहलाता है। ये तीनों ही कार्य सृष्टि में प्रतिदिन और प्रतिक्षण हो रहे हैं। सूर्य नित्यप्रति त्रैलोक्य को प्रकाश, ऊर्जा, नवजीवन और नवउत्साह दे रहा है, यह भी एक प्रकार का नित्ययज्ञ ही है। पृथ्वी मनुष्य को अन्न, जल, औषधि आदि का दान कर रही है यह एक नित्ययज्ञ है। चन्द्रमा औषधियों में रस डाल रहा है, मेघ वर्षा कर रहे हैं, वायु सबको प्राण दे रहा है, ये सब प्राकृतिक नित्ययज्ञ के रूप हैं जो सृष्टि में निरन्तर देवों के द्वारा सम्पादित किये जा रहे हैं। इसी नित्ययज्ञ का अभ्यास हम लौकिक कृत्रिम अग्निहोत्र आदि के द्वारा करते हैं वास्तव में यह यज्ञ नहीं है अपितु नित्ययज्ञ का अभिनय कर रहे हैं। हम यज्ञ में मन्त्रपाठ करते हैं–**"इन्द्राय स्वाहा इदम् इन्द्राय इदम् न मम"** यह एक प्रकार के दान का अभ्यास है। वास्तव में यह सृष्टि मनुष्य को भोगने के लिए दी गयी हैं वह सब परमात्मा की सम्पत्ति है हमें उसका त्यागभाव से भोग करना चाहिए। संसार में जो कुछ भी अन्न, वस्त्र, स्वर्ण, धन, भोजनादि पदार्थ हैं उस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है यह सब परमात्मा की सम्पत्ति है हमें परमात्मा के द्वारा दिया गया दान है। इसलिए यजमान कहता है कि यह सामग्री इन्द्र के लिए है, अथवा वरुण के लिए है, अथवा प्रजापति के लिए है यह मेरा नहीं है। **"इदं न मम"** के द्वारा हम उसी दान का अभ्यास लौकिक अग्निहोत्र से करते है। शतपथब्राह्मण कहता है कि **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"** अर्थात् संसार में जितने भी श्रेष्ठतम कर्म है, वे सभी यज्ञ है।[1] सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, तप, स्वाध्याय और विद्या ये सभी यज्ञ कहलाते हैं। इसलिए गीता में यज्ञ के पाँच प्रकार बताये गये हैं–द्रवयज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ। इसके अतिरिक्त गीता में एक अन्य प्रकार के यज्ञ का उल्लेख किया गया है जिसे जपयज्ञ कहते हैं। यह जपयज्ञ उपर्युक्त पाँचों यज्ञ से भी श्रेष्ठतम कर्म है। **"द्रव्य यज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञान-यज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः"**॥[2] इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं यज्ञों में जपयज्ञ हूँ। **"महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः"**॥[3] किन्तु आजकल हमने भौतिक अग्नि में घृतादि सामग्री की आहुति देना हि यज्ञ मान लिया है इसी को हम द्रवयज्ञ कहते हैं। किन्तु वास्तव में घृतादि की आहुति का नाम ही यज्ञ नहीं है अपितु भूखे को भोजन देना, वस्त्रहीनों को वस्त्र देना, तालाब खुदवाना, धर्मशाला बनवाना और देवालयों का निर्माण करवाना भी

---

1. शतपथब्राह्मण 1/7/1/5
2. श्रीमद्भगवद् गीता 4/28
3. श्रीमद्भगवद् गीता 10/25

द्रवयज्ञ के ही अन्तर्गत आते हैं क्योंकि इसमें अन्न, धनादि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

गीता कहती है यज्ञ में अवशिष्ट अन्न का भोग करने वाले पुरुष समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं। **"यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः। भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"॥**[1] यहाँ पर ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जिस यज्ञ के शेष पुरोडाश आदि अन्न का भोग करने की बात गीता कह रही है वह यज्ञ यह लौकिक अग्निहोत्र नहीं हो सकता। इस यज्ञ का शेष तो हम रोज खाते हैं किन्तु आज तक कोई भी इस यज्ञ का भोग करके पापों से मुक्त नहीं हुआ किन्तु और अधिक पापों को करने में प्रवृत्त हो जाते हैं इसलिये जिस यज्ञ की बात गीता कह रही है वह नित्य यज्ञ ही है। वास्तव में यहाँ यज्ञशेष का अर्थ इन्द्रियरूपी देवताओं का तर्पणरूप कर्म है उस कर्म का अवशेष स्वात्मस्थिति है। स्वात्मानन्द उस आनन्दरूप अन्न को जो खाते हैं वे समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं। यही नित्य यज्ञ के अवशिष्ट अन्न का अर्थ है। यह मत हमारा नहीं हैं अपितु गीता के मर्मज्ञ अभिनवगुप्तपादाचार्य का है जिन्होंने गीता पर गीतार्थसंग्रह नामक भाष्य लिखा है। **"यज्ञशिष्टेति। अवश्यकर्त्तव्यतारूपशासनमहिमायातानभोगान् येऽश्नन्ति आवान्तर-व्यापारमात्रतयाऽत एव च पृथक्फलत्वाभावांगया। अथ चेन्द्रियात्मकदेवगणतर्पण लक्षणयज्ञादवशिष्ठमन्तः सारस्वात्मस्थित्यानन्दनलक्षणविघसं येऽश्नन्तितत्रारूढ़ा भवन्ति तेदुपादेयोपायतया तु विषयभोगं वाञ्छन्ति ते सर्वकिल्विषैः शुभा-शुभैर्मुच्यन्ते"।**[2]

गीता में आगे कहा गया है अन्न से चराचर भूत उत्पन्न होते हैं, वह अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है, उस पर्जन्य की उत्पत्ति यज्ञ से होती है और उस यज्ञ का उद्भव कर्म से होता है। **"अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः"॥**[3] यहाँ गीता में जिस अन्न से भूतों की उत्पत्ति बताई गयी है वह गेहूँ, धान्यादि लौकिक अन्न नहीं है वह अन्न स्वात्मास्थितरूप आनन्द ही हो सकता है। उस आनन्द से ही भूत पैदा होते हैं यही बात तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली में कही गई है कि अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं उसी से ही जीते हैं और उसी में लय हो जाते हैं। **"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि-संविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमेव्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद**

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता 3/13
2. अभिनवगुप्तपादाचार्य–गीतार्थ संग्रह 3/13
3. श्रीमद्भगवद्गीता 3/14

प्रतितिष्ठति। अन्नवानानन्दो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्तया" यहाँ पर्जन्य का अर्थ भी यह लौकिक मेघ नहीं है जिससे वर्षा होती है, अपितु पर्जन्य का अर्थ आत्मा है क्योंकि आत्मा ही अन्न का भोक्ता है उसी भोक्ता से अन्न की उत्पत्ति होती है जिस यज्ञ से पर्जन्य उत्पन्न होता है उसी का नाम श्रेष्ठतम कर्म है।[1]

कहने का भाव यह है कि शतपथब्राह्मण जिस यज्ञ का प्रतिपादन करता है वह देवपूजा, संगतिकरण और दानरूप श्रेष्ठतम कर्म ही है इसी का नाम नित्ययज्ञ है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि लौकिक द्रव्यज्ञ करने से कोई लाभ नहीं होता द्रव्यज्ञ से भी लाभ होता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि लौकिक अग्निहोत्र में डाली गई घृतादि की आहुति सीधे आदित्य में स्थित होती है, उस आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। **"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"॥**[2] इसलिए द्रव्यज्ञ का भी लाभ होता है अपितु केवल द्रव्यज्ञ ही यज्ञ नहीं होता अपितु तप, योग, स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ भी नित्ययज्ञ के ही तत्व हैं उन्हीं का प्रतिपादन शतपथब्राह्मण में किया गया है। इसलिए शतपथब्राह्मण में यज्ञ की जो परिभाषा दी गई है वह सर्वथा नूतन परिभाषा है और यही नित्ययज्ञ की परिभाषा है। यज्ञ का लक्षण **"कल्याणार्थिना सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायांगतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः"**[3] यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो अग्नि में नित्ययज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है वह केवल यह चूल्हे की अग्नि ही नहीं है। अपितु अग्नि पाँच प्रकार की है-द्युलोकाग्नि, पर्जन्याग्नि, इहलौकिकाग्नि, पुरुषाग्नि और योषाग्नि इसका विस्तारपूर्वक व्याख्यान बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है, जिसे पंचाग्निविद्या का नाम दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि यह द्युलोक ही अग्नि है। आदित्य उसकी समिधा है, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अंगार हैं, अवान्तर दिशाएँ चिंगारियाँ हैं उस अग्नि में देवगण श्रद्धा का होम करते हैं उस आहुति से सोम राजा होता है। **"असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोअंगारा आवान्तरदिशो विस्फुलिंगा-स्तस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति"**[4] मेघ भी अग्नि ही है, संवत्सर उसकी समिधा है, बादल धुँआ है, विद्युत् उसकी ज्वाला है, इन्द्र का वज्र अंगार है, गर्जना चिंगारियाँ हैं, इस अग्नि में देवगण सोम का हवन करते हैं, इस आहुति से वृष्टि होती है **"पर्जन्यो वाऽग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव**

1. तैत्तिरीयोपनिषद्-भृगुवल्ली षष्ठ अनुवाक
2. मनुस्मृति 3/76
3. शतपथब्राह्मण 1/7/1/5 पर पं. बुद्धदेव विद्यालंकार का भाष्य
4. बृहदारण्यकोपनिषद् 6/2/9

समिदभ्राणि धूमोविद्युदर्चिरशनिरंगारा ह्रादुनयो विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति"।।[1]

यह लोक भी अग्नि है पृथ्वी उसकी समिधा है, अग्नि उसका धुँआ है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अंगार है, नक्षत्र चिंगारियाँ हैं इस अग्नि में देवता वृष्टि का होम करते हैं इस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है। **"अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुरलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं संभवति"।।**[2]

यह पुरूष (मनुष्य) भी एक प्रकार की अग्नि है उसका मुख समिधा है, श्वास उसका धुँआ है, वाणी उसकी ज्वाला है, नेत्र अंगारे हैं, स्त्रोत चिंगारियाँ हैं, इस अग्नि में देवगण अन्न का होम करते हैं इस अन्न से वीर्य उत्पन्न होता है। **"पुरूषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरंगाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति"।।**[3]

यह स्त्री भी एक प्रकार की अग्नि है, मनुष्य शिश्न उसकी समिधा है, योनि के पास जो लोम हैं, वे उसका धुँआ है, योनि उसकी ज्वाला है, मैथुन व्यापार अंगारे हैं योनि के घर्षण से जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वे उसकी चिंगारियाँ हैं, उस अग्नि में देवगण वीर्य का होम करते हैं और उस वीर्य से पुरूष की उत्पत्ति होती है। **"योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति ते अंगारा अभिनन्दा विस्फुलिंगास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरूषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते"।।**[4]

शतपथब्राह्मण कहता है कि उस नित्ययज्ञ में जल, अग्नि, पुरोडाश, कृष्णचर्म, सोम, स्रुवा आदि वस्तुओं का उपयोग किया जाता हैं वे वास्तव में नित्ययज्ञ के प्रतीक हैं। जैसे अभिनय करते हुए कोई भी वस्तु वास्तविक नहीं होती अपितु उस वस्तु का प्रतीक मात्र होती हैं। वैसे ही यज्ञ में प्रयुक्त ये सब पदार्थ नित्य पदार्थो के प्रतीक मात्र हैं। सबसे पहले हम जल को लेते हैं। दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों के आरम्भ में यजमान जल का आचमन करता है। यजमान जब यज्ञ करने बैठता है तो वह व्रत धारण करता है–**"इदम् अहमनृतात् सत्यमुपैमि"** व्रत धारण करने से पहले मन का शुद्ध होना आवश्यक है जल उस शुद्धि का प्रतीक है। जल में पावनतारूप गुण होता है जल उसी पावनता का प्रतीक है।

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 6/2/10
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 6/2/11
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 6/2/12
4. बृहदारण्यकोपनिषद् 6/2/13

अब हम अग्नि पर विचार करते है। अग्नि का अर्थ रोटी पकाने वाला तथा लकड़ी जलाने वाला भौतिक अग्नि नहीं है। यज्ञवेदि में जिस अग्नि का आधान किया जाता है वह वास्तव में अन्तरात्मा में तेज का आधान करने वाली अग्नि है। शतपथब्राह्मण कहता है कि अग्नि आकूति, मेधा, दीक्षा और सरस्वती का प्रतीक है। शतपथब्राह्मण में बताया गया है कि सम्भरण विधि में निम्न आहुतियाँ दी जाती है। **"आकूत्यै प्रयुजे"** यहाँ जो पहली आहुति दी जाती है, वह इस प्रकार है–**"आकूत्यै प्रयुजे अग्नये स्वाहा"** मैं आकूति को धारण करता हूँ। यहाँ आकूति का अर्थ है–प्रेरणा। यह प्रेरणा भी अग्नि रूप ही है। जहाँ अग्नि रहती है, वहाँ के वातावरण को गतिशील कर देती है इसलिए आकूति को अग्नि मानकर आहूति दी गई है। फिर दूसरी आहूति है–**"मेधायै मनसे अग्नये स्वाहा"** मैं मेधा को अग्नि रूप मानकर धारण करता हूँ यहाँ अग्नि मेधा अर्थात् दुर्गुण विनाशक बुद्धि का प्रतीक है। तीसरी आहुति है–**"दीक्षायै तपसे अग्नये स्वाहा"**। यहाँ दीक्षा रूप तप अग्निस्थानीय है। अर्थात् मैं अग्नि को दीक्षारूप तप मानकर धारण करता हूँ। चतुर्थ आहुति है–**"सरस्वत्यै पूष्णे अग्नये स्वाहा"** अर्थात् सरस्वती रूप पूषा को अग्नि मानकर धारण करता हूँ। इस प्रकार आकूति, मेधा, दीक्षा और सरस्वती का प्रतीक मानकर अग्नि को धारण करने की प्रतिज्ञा की गई है। इस प्रकार सर्वत्र यज्ञ का प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी देवता का प्रतीक माना जाता है। यदि हम अग्नि को केवल स्थूलाग्नि मानकर उसका आधान करते है तो यह वास्तविक नित्ययज्ञ नहीं है।[1]

अब हम पुरोडाश पर विचार करते हैं यज्ञ में यजमान पुरोडाश की भी आहुति देता है और बचे हुए पुरोडाश को यज्ञशेष मानकर उसका भक्षण करता है। पुरोडाश का निर्माण घृत, दुग्ध, दही, मधु, गुड़ और चावल से निर्मित किया जाता है। इसे मधुपर्क भी कहा जाता है। पौर्णमास यज्ञ में पुरोडाश बनाने का विधान वेदोक्त है। वास्तव में यह पुरोडाश नित्ययज्ञ में कोई लौकिक पदार्थ नहीं होता अपितु पुरोडाश मस्तिष्क अथवा कपाल का प्रतीक है। पुरोडाश यज्ञ का सिर है जब पुरोडाश तैयार किया जाता है तो एक व्यक्ति कपाल लेकर बैठता है और दूसरा व्यक्ति सिलबट्टा लेकर बैठता है ये कपाल और सिलबट्टा यज्ञ के सिर के प्रतीक हैं। मस्तिष्क में दो कपाल होते है। एक दाहिना और दूसरा बाँया। सिल और बट्टा ये दोनों इन्हीं दोनों कपालों के प्रतिनिधि है। यज्ञ में इन्हीं दो कपालों का उपयोग किया जाना चाहिए। यह दिखाने के लिए ही पुरोडाश के लिए सिल और बट्टे का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार पुरोडाश कोई बाह्य पदार्थ न होकर दो कपालों का प्रतिनिधि है। **"स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति दृषदुपलेऽन्यतरस्तद्वाएतदुभयं सह क्रियते.....। शिरो**

1. शतपथब्राह्मण 3/1/4/4-9

ह वा एतद्यज्ञस्ययत्पुरोडाशः स यान्येवास्य शीर्ष्णः कपालानितान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि"[1]

कृष्णाजिन-

अब यज्ञ में प्रयुक्त कृष्णाजिन पदार्थ पर विचार करते है। यज्ञ में कृष्णाजिन का प्रयोग किया जाता हैं कृष्ण एक मृग का नाम है उसके शरीर पर तीन तरह के रोम होते है। कुछ रोम श्वेत रंग के, कुछ रोम शुक्ल रंग के और कुछ रोम भूरे और हरे रंग के होते हैं उन तीनों प्रकार के रोमों की कुछ आहुतियाँ यज्ञ में दी जाती है। वास्तव में यह कृष्णाजिन कोई बाह्य मृग नहीं होता यह कृष्णाजिन ऋक्, यजु, और साम इस त्रयीविद्या का प्रतीक होता है। जो श्वेत रोम है वे ऋग्वेद के प्रतीक है, जो काले रोम हैं वे सामवेद के प्रतीक हैं तथा जो भूरे और हरे रंग के रोम हैं वे यजुर्वेद के प्रतीक हैं। इस प्रकार यह कृष्णाजिन त्रयीविद्या का प्रतीक है। **"तस्य यानि शुक्लानि कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां साम्नाञ्चरूपं यानि शुक्लानि तानि साम्नांरूपं यानि कृष्णानि तान्यृचां यदि वेतरथा यान्येव कृष्णानि तानि साम्नांरूपं यानि शुक्लानि तान्यृचां यान्येव बभ्रूणि हरीणि तानि यजूषां रूपं सैषा त्रयीविद्या यज्ञः"।**[2]

सोम-

यज्ञ में प्रायः याज्ञिक लोग सोम का प्रयोग करते हैं इसे किसी सोमलता के रूप में लिया जाता है जो किसी पर्वत पर एक दुर्लभ वनस्पति मानी जाती है वास्तव में यह सोम किसी लौकिक सोमलता को नहीं माना जाना चाहिए। शतपथब्राह्मण कहता है कि वास्तव में सत्य, यश, श्री और ज्योति को वैदिक भाषा में सोम कहा जाता है तथा अनृत, पाप, और तमस को सुरा कहते हैं। यह सोम जिसे यज्ञ में सोमलता के रूप में ग्रहण किया जाता है वह कोई लौकिक पदार्थ नहीं माना जाना चाहिए।

शतपथब्राह्मण के अनुसार सोम पहले देवलोक में था उसे अपने पास रखने के लिए देवों ने प्रयास किया उन्होंने माना कि यह सोम हमारे पास आ जाये हम इसके स्वामी बन जाये। अपने विचारों को मूर्त रूप देने के लिए देवों ने दो प्रकार की माया की रचना कर डाली एक का नाम था-सुपर्णी और दूसरी का नाम था-कद्रू। वास्तव में वाणी का नाम सुपर्णी है और पृथ्वी का नाम कद्रू है। इन दोनों ने देवलोक में जाकर सोम को झपटना चाहा दोनों में ईर्ष्या हो गई फिर यह समझौता किया गया

1. शतपथब्राह्मण 10/2/1/1-2
2. शतपथब्राह्मण 1/1/4/2-3

कि हम दोनों में से जो दूर तक देख सकेगा वह विजयी माना जायेगा। सुपर्णी बोली इस जल के पार एक श्वेत घोड़ा स्थाणु पर खड़ा है, कद्रू बोली मैं यह देख रही हूँ कि उस अश्व का जो बाल फँसा हुआ है उसे हवा उड़ा रही है फिर दोनों में निश्चय हुआ कि चलो दोनों देखकर आते है कि किसकी दृष्टि सही है। कद्रू बोली कि तू ही उड़कर देख आ सुपर्णी वहाँ उड़कर गई और कद्रू बोली कि बता तू जीती कि मैं सुपर्णी बोली तू ही जीती। यह कथा **"सौपर्णीकाद्रव उपाख्यान"** कही जाती है।

कद्रू बोली कि देवलोक के उस सोम को लाकर तू देवताओं को दे दें तब सुपर्णी वहाँ गई वहाँ उसने गायत्री नामक छन्द की सृष्टि की। सोम दो सुवर्ण के गमलों में रखा था गायत्री की सहायता से वे दोनों गमले सुपर्णी छीन लाई और देवों को दे दिये देवों ने उस सोम से दीक्षा ग्रहण की। वास्तव में यह काल्पनिक कथा है देवलोक में कोई सोम नहीं है। दीक्षा और तप ये दोनों गमले हैं जिसमें सत्य, यश, श्री और ज्योति नामक चार सोम लगे हुए है। गायत्री छन्द के द्वारा उस सोम का आहरण किया जाता है। इसको लोक में लोगों ने सोम का नाम दे दिया। **"दिवि वै सोम आसीत् अथेह देवास्ते देवा अकामयन्त नः सोमो गच्छेहत्तेनागतेन यजेमहीति एत मायेऽसृजन्तसुपर्णीञ्च कद्रूश्च, वागेव सुपर्णीयं कद्रूस्ताभ्यां समदं चक्रु... ...**[1]

जिसे हम अग्नि और सोम कहते है ये वास्तव में मस्तिष्क के दो गुण है आदर्श मस्तिष्क में अग्नि और सोम का उचित मेल होना चाहिए। जिस प्रकार पुरोडाश में दो गुण उचित मात्रा में होने पर वह उत्तम पुरोडाश बनता है। पुरोडाश में जो शुष्कता है, वह अग्नि का प्रतीक है और जो गीलांश है वह सोम का प्रतीक है। मस्तिष्क में भी शुष्कता और आर्द्रता दोनों का उचित मेल होना चाहिए यदि मस्तिष्क में अग्नि का गुण केवल शुष्कता ही होगी तो वह मस्तिष्क उग्र होकर विनाश को उत्पन्न करेगा और यदि केवल सोम का गुण आर्द्रता ही होगी तो ऐसा मस्तिष्क भी सम्यक् विचार करने के योग्य नहीं होगा। उत्तम मस्तिष्क में अग्नि और सोम का उचित मिश्रण होना अति आवश्यक है।

पवित्रता-

यज्ञ में कुशा की दो पवित्रा बनाई जाती है उन दोनों से आहुति देते समय मन्त्र पढ़ा जाता है-"पवित्रेस्थो वैष्णव्यौ" अर्थात् तुम दोनों वैष्णवी हो। विष्णु यज्ञ का नाम है यज्ञ के लिए उपयोगी होने से उन्हें वैष्णवी कह दिया गया है। मन्त्र का अर्थ यह

---

1. शतपथब्राह्मण 3/6/2/2-11

हुआ कि हे पवित्राओ तुम दोनों यज्ञ के लिए उपयोगी हो। पवित्रा वायु को कहते हैं वायु के दो रूप है–प्राण और उदान। शरीर में प्राणवायु प्राण और उदान के रूप में दो रूप धारण कर शरीर को धारण करता है। इसलिए दो पवित्राएँ बनाई जाती है। **"पवित्रे करोति पवित्रेस्थो वैष्णव्याविति। यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञियेस्थ इत्येवैतदाह ते वै द्वै भवतः अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमेक इवैव पवते सोऽयं पुरूषेऽन्तः प्रविष्टः प्रांच प्रत्यंच ताविमौ प्राणोदानौ तदेतस्यैवानुमात्रां तस्माद् द्वे भवतः"**[1]

वेदि–

यज्ञ के लिए वेदि का निर्माण किया जाता है नित्ययज्ञ में वेदि का अर्थ लौकिक वेदि नहीं लिया जाता। यह स्त्री और पुरूष के मिथुन का प्रतीक है। जब वेदि का निर्माण किया जाता है तो उसे पीछे के भाग में चौड़ी, मध्य में पतली और फिर चौड़ी बनाई जाती है। यह वेदि स्त्री के शरीर का प्रतीक है। स्त्री का शरीर भी नितम्ब भाग में चौड़ा, मध्य भाग में पतला और उसके ऊपर फिर चौड़ा हो जाता है। वेदि के दोनों ओर दो ऊँचे कंधे (स्कन्ध) बनाये जाते है वह आह्वनीय अग्नि रूप पुरूष का प्रतीक है। इस प्रकार वेदि स्त्री और पुरूष का मिथुन रूप होता है। **"सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्। मध्ये सं ह्वारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवामिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्व्विमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति"।**[2]

निष्कर्ष–

इस प्रकार हमने देखा कि यह भौतिक यज्ञ एक नाटक का अभिनय मात्र है। समस्त ब्रहाण्ड़ में जो एक विराट नित्ययज्ञ चल रहा है। मृतलोक के मनुष्य उसका सूक्ष्मरूप में अभिनय करने के लिए वेदि, जल, सुवर्ण, पवित्रा, पुरोडाश आदि जड़ पदार्थो का उपयोग करते हैं। यह लौकिक यज्ञ उस नित्ययज्ञ का एक लघु अभिनय है। मन्त्रों के प्रयोग से जल, अग्नि, पवित्रा, सोम, पुरोडाश आदि रूपान्तरित होकर देवताओं का रूप धारण कर लेते हैं वहाँ एक तिनका भी सोम देवता बन जाता है, पत्थर का एक टुकड़ा भी ध्रुव का रूप धारण कर लेता है, वहाँ याज्ञिक का मस्तिष्क भी पुरोडाश बनकर उपस्थित हो जाता है, साधारण जल वरूण देवता और भूलोक की अग्नि आदित्य बन जाती है यही नित्ययज्ञ का रहस्य है जिसे शतपथब्राह्मण में बड़े विस्तार से समझाने का प्रयास किया गया है। लौकिक यज्ञ की नित्ययज्ञ के रूप में व्याख्या करने का यह कार्य बड़ा दुष्कर कार्य है आजकल के विद्वान् लोग इस

---

1. शतपथब्राह्मण 1/1/3/1–2
2. शतपथब्राह्मण 1/2/3/16

दिशा में प्रयास नहीं करते। इस रूप में शतपथब्राह्मण की व्याख्या करने का दुष्कर और महनीय प्रयास कभी पं. बुद्धदेव विद्यालंकार ने किया था उसके पश्चात् व्याख्या की यह परम्परा अवरुद्ध हुई सी लगती है।

सन्दर्भग्रन्थ :

(1) शतपथ ब्राह्मणभाष्य, पं. बुद्धदेवविद्यालंकार, समर्पण शोध संस्थान, साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ.प्र.), प्रथम संस्करण।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (109-113) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

श्रीमद्भगवद्गीता प्रोक्त यज्ञ शब्द का अर्थानुशीलन

-नवीन

एवं

-अंकुर कुमार आर्य

शोधच्छात्र, वेद विभाग,
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्राचीन समय में जब भगवद्गीता का आविर्भाव हुआ तब तत्कालीन आर्यावर्त में सर्वत्र कर्मकाण्ड का प्रसार था। कर्मकाण्ड का **प्रतिपादान** एवं सूक्ष्म विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थो में किया गया है। कर्मकाण्डज्ञों का मानना था कि विधियुक्त यज्ञ ही स्वर्ग प्राप्ति में सहायक होता है। सन्तानार्थ और सम्पत्त्यर्थ नानाविध यज्ञों का आयोजन होता था-

आ ते योनिं गर्भ एत पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरोखत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥[1]

सकामता को यज्ञों का आधार माना जाता है। सृष्टि का सम्पूर्ण व्यवहार निष्कामतावलम्बी है और इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि सकामता के उद्देश्य से किया गया यज्ञ भी निष्कामता के बिना सफल नहीं होता, जैसा कि कर्मकाण्डज्ञ विद्वत्परम्परा का मत है कि देवता सृष्टि का संचालन करते हैं। कर्मकाण्डज्ञ यज्ञ के द्वारा देवताओं के लिए हवि देते हैं। देवता भी हवि से सन्तुष्ट हो याज्ञिकों की सुख सम्पत्ति तथा धन आदि में वृद्धि करते हैं। याजक हविर्दान के समय देवतानुसार **"इदमग्नये इदन्नमम"** इस प्रकार के समर्पण वाक्य को उच्चारित करते हैं। यह पुरातन यज्ञविधि ही कृष्ण के द्वारा अपने उपदेश में स्वीकार की गई है। देवों के लिए निःसृत **"इदन्न मम"** की भावना ही निष्काम कर्म है। कामना का, ममत्व का, अंहकार का त्याग ही निष्काम कर्म है। **"न मम"** जैसी श्रेष्ठोदात्त भावना यदि यज्ञों में न हो तो यज्ञ सफल नहीं होते। इससे यह ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अपने समय में विद्यमान यज्ञ शब्द का नूतन अर्थ स्वीकार किया गया।

---

1. अथर्ववेद 3/23/2

जो मनुष्य विचारों में परिवर्तन चाहते हैं, वे पुरातन शब्दों में नूतन अर्थों को प्रक्षिप्त करते हैं। सामान्य जन पुरातन अर्थों को नहीं छोडते। अतः नूतन संदेशवाहक पुरातन शब्दों में नूतनता लाते हैं। श्रीकृष्ण ने भी यही किया। जो यज्ञ शब्द सकामभावनार्थ प्रयुक्त होता था उसको निष्काम भावनार्थ प्रयुक्त किया। यज्ञ त्याग और निष्कामता की भावना तो सृष्टि के बीज में ही दिखाई पड़ जाती है। सर्ग के आदि में ही प्रजाधिपति परमेश्वर आदेश देता है कि हे मनुष्यो! तुम सब इसी निष्कामता से सृष्टि चक्र का संचालन करो।[1]

एक ईश्वर सभी भूतों में गूढ़रूप से स्थित है। वह ही आनन्ददायक देव है।[2] पंच महायज्ञान्तर्गत ब्रह्मयज्ञ में इसी एक ईश्वर की उपासना की जाती है। पितृयज्ञ के अन्तर्गत माता, पिता, आचार्य भी सेवा सत्कार करने का विधान है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कहा है- **मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, विद्वांसो देवाः इति।** एतदर्थ भगवद्गीताकार स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो मनुष्य श्रेयस्कामा है वह पंच महायज्ञों से देवताओं की उपासना करे। यज्ञों के अनुष्ठान से देवता प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न देवता अभीष्ट की प्राप्ति कराते है।[3]

वैदिक संस्कृति में यज्ञशेष का भी अतीव महत्त्व है। पंचविध यज्ञों अर्थात् देवता, माता-पिता, आचार्य और अतिथि आदि को भोजन देने के बाद जो अवशेष बचता है उसको यज्ञशिष्टान्न कहते हैं और जो इस यज्ञशिष्टान्न को ग्रहण करता है वह सभी रोगों से या पापों से मुक्त हो जाता है।[4] जो मनुष्य केवल स्वोदरपूर्त्यर्थ ही पाक ग्रहण करते हैं वे केवल पाप खाते हैं। अतः जो अन्न पाकशाला में पकता है उस अन्न का उपभोग करने से पूर्व अग्नि में मन्त्रपूर्वक आहुति देनी चाहिए, तदनन्तर माता-पिता आदि को देकर अवशिष्टान्न का उपभोग करना चाहिए।

गीता में यज्ञ शब्द का आत्मसमर्पणपरक एक अर्थ और भी दिग्दर्शित होता है। सामान्य दृष्टि से देखा जाये तो गीता एक आनुष्ठानिक यज्ञ का वर्णन करती है परन्तु गंभीरता से से देखा जाये तो स्पष्ट होता है कि गीता में यज्ञ शब्द का प्रयोग दार्शनिक अर्थों में भी किया गया है। यह जगत् आत्मसमर्पण का उदाहरण है निष्कामकर्म का चेतन दृष्टान्त है। अतः यह यज्ञरूप है। यज्ञ का इतना अधिक माहात्म्य है कि अन्न की वृद्धि तथा प्राप्ति भी यज्ञ से होती है। यज्ञ के माध्यम से

---

1. गीता 3/10
2. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापि सर्व भूतान्तरात्मा। श्वेता0 30/06/
3. गीता 3/11
4. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
   भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। गीता 3-13

वृष्टि होती है तथा अन्न उत्पन्न होता है। पर्जन्य भी यज्ञ से ही उत्पन्न होता है। यज्ञ रूपकर्म के द्वारा ही पर्जन्य उत्पन्न होकर यथासमय वृष्टि करा सकता है।[1] अतः यजुर्वेद में वृष्ट्यर्थ सहायक यज्ञ शब्द के लिए वर्षवृद्धम् शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है-

तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा।[2]

अग्निहोत्र के माध्यम से जो वृष्टि होती है वह अत्यधिक लाभप्रद होती है, क्योंकि यज्ञकर्म से निर्मित मेघ दोष रहित होते हैं। अतः यज्ञ के माध्यम से होने वाली वर्षा शुद्ध होती है। इस विषय में ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि यज्ञ के द्वारा जो वाष्प उत्पन्न होती है वह वायु और जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सकल जगत् को सुखयुक्त करती है। शुद्ध जल एवं वायु से औषधियां और अन्नादि शुद्ध हो जाते हैं। तथा सम्पूर्ण जगत् सुखयुक्त हो जाता है। इस प्रकार का सुख केवल यज्ञ से ही सम्भव हो पाता है।[3]

यज्ञ कर्म का साफल्य निष्कामता पर आधारित है। जिसका वर्णन गीता के तृतीयाध्याय में प्रमुखता से दिया है। निष्काम कर्म की उत्पत्ति ज्ञान से, ज्ञान की उत्पत्ति अविनाशी परमात्मा से होती है। यह नित्य सर्वव्यापक ईश्वर सदैव यज्ञ में प्रतिष्ठित होता है। अतएव कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मनुष्य जो यज्ञरूप कर्म करता है उस यज्ञ से वृष्टि उत्पन्न होती है वृष्टि से अन्न, अन्न से मनुष्य उत्पन्न होते हैं मनुष्य पुनः यज्ञकर्म करता है, यज्ञ से पुनः वृष्टि, वृष्टि से पुनः अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। जगदधिपति के द्वारा संचालित प्रभ्रामित सृष्टियज्ञचक्र को जो सञ्चालित नहीं करता वह पापजीवन इन्द्रिय विषयलम्पट व्यर्थ प्राणों को धारण करता है।[4]

श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में भी यज्ञों की विशद विवेचना दृष्टिगत होती है। यज्ञार्थ किया गया श्रम मनुष्य को सभी कर्म बन्धनों से मुक्त कर देता है।[5] ऐसी चर्चा भगवान् श्रीकृष्ण ने तृतीयाध्याय में पृथक् रूप से की है। यज्ञ से भिन्न किया गया कर्म बन्धन का कारण होता है।[6] चतुर्थ अध्याय में अनेकविधयज्ञों का

---

1. अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
2. अथर्ववेद- 4/15/16
3. महर्षि दयानन्द, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका की भूमिका
4. एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
   अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। गीता 3/16
5. यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। गीता 4/23
6. गी० 4/32

दिग्दर्शन होता है। यथा–ब्रह्मयज्ञ, भगवदर्पणरूप यज्ञ, अभिन्नतारूप यज्ञ, स्तम्भवृत्ति प्राणायाम रूप यज्ञादि।[1]

गीता का यज्ञ शब्द इतना व्यापक है कि इसमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ व्रत, होम आदि शास्त्र विहित शुभकर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। अत एव भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि **"एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे"**[2] सभी यज्ञ कर्म से उत्पन्न होते हैं। तथा कर्म से उत्पन्न यज्ञ को सम्यक् रूपेण जानकर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[3] इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान और आसक्ति को छोड़कर किये गये सभी शुभ कर्म यज्ञ ही हैं।

द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि द्रव्ययज्ञ कर्ममय है। इसका उद्देश्य भी ब्रह्म की प्राप्ति ही है परन्तु ब्रह्मप्राप्ति भी ज्ञान के बिना असम्भव है। अतः ज्ञानयज्ञ उत्कृष्ट है। स्वसम्पत्ति का लोककल्याणार्थ त्याग ही द्रव्ययज्ञ है तथा अविद्या का नाश ज्ञान यज्ञ है। दोनों यज्ञों में ज्ञान को श्रेष्ठ बताते हुये श्री कृष्ण कहते हैं कि–

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।[4]

सृष्टि संस्था के साथ हम लोग प्रतिदिन व्यवहार करते हैं। यदि सौ मनुष्य एक स्थान पर निवास करते हैं। तो तत्काल से ही वह स्थान दूषित होने लगता है, वहां की वायु, वहां की मिट्टी, जल सभी दूषित हो जाते हैं। सृष्टि संस्था का यह ह्रास हमारे द्वारा ही पूरणीय है। अतः विभिन्न यज्ञ संस्थाओं का निर्माण किया जाता है। सृष्टि में जायमान ह्रास की आपूर्ति यज्ञ से सम्भव होती है। सहस्रों वर्षों से अद्यावधिपर्यन्त इस धरा का दोहन होता रहा है, जिससे अवनिगत सार समाप्त होता जा रहा है। ह्रास की आपूर्ति के लिए यज्ञ ही एकमात्र साधन है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता मे त्रिविध यज्ञों का वर्णन किया है।[5] उसमें सर्वप्रथम सात्विक यज्ञ का वर्णन मिलता है। सात्विक यज्ञ में ऐहिक और आमुष्मिक पदार्थों की आकांक्षा नहीं रहती है। निष्काम भाव से यज्ञ का आयोजन होता है। निष्काम भाव तथा निश्चल मन से किया गया यज्ञ सात्विक यज्ञ कहलाता है। द्वितीय यज्ञ राजस यज्ञ है। प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष फलों की आकांक्षा से क्रियमाण यज्ञ राजसयज्ञ कहलाता है। इस यज्ञ के माध्यम से मनुष्य केवल धार्मिक रूप से प्रसिद्ध हो सकता है। तृतीय यज्ञ तामसिक यज्ञ होता है। मंत्रों का भी उच्चारण नहीं होता,

1. यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। गीता–3/9
2. गीता दर्शन, गीता 4/24 से 30
3. गीता– 4/32
4. गीता– 4/33
5. गीता– 17/11,12,13

अपितु श्लोक या अन्यवाक्यों का उच्चारण होता है। तामस यज्ञ में श्रद्धा का भी अभाव भी दिग्दर्शित होता है। सात्विक तथा राजनैतिक यज्ञों का प्राधान्य महाभारत कालीन समाज में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार भवगद्गीता में यज्ञ का एक नवीन एवं परिवर्तित अर्थ दिग्दर्शित होता है।

श्री अरविन्द ने गीता के यज्ञ शब्द की अतिसमीचीन व्याख्या प्रस्तुत की। अरविन्द के मतानुसार गीता में यज्ञ का वर्णन तृतीय और चतुर्थ अध्याय में है। प्राथमिक दृष्टि दर्शन से ज्ञात होता है कि पुरातन काल में सम्प्रवृत्त यज्ञों का वर्णन ही गीता में है परन्तु यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाये तो श्रीमद्भगवद्गीता यज्ञ के व्यापक दार्शनिक अर्थ को स्वीकार करती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ शब्द के मूल अर्थ को लक्षणा शक्ति के द्वारा व्यापक तथा विस्तृत कर दिया गया है। तप, सन्यास, समाधि, प्राणायाम इत्यादि भगवद् प्राप्ति के साधन यज्ञ के ही प्रकार हैं ऐसा दिग्दर्शित होता है। तिलक ने भी उक्त अर्थों को स्वीकार किया है। 'यज्ञ के बिना इहलोक भी सिद्ध नहीं होता' इस प्रकार का गीता का यह वाक्य बाल गंगाधर तिलक के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यज्ञों का महत्त्व गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है। एक परमेश्वर सभी भूतों में गूढ रूप से स्थित है। वह आनन्ददायक है वह ही देव है। देवों के सम्मान के लिए यज्ञ करें जिससे देव प्रसन्न हो अभिष्ट की प्राप्ति करावें।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (114-118) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

उपनिषदों में आत्मा एवं प्राण का सम्बन्ध

-डॉ० मौहर सिंह मीणा
असिस्टैंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्याय, हरिद्वार

-डॉ० पवन कुमार
अतिथि व्याख्याता, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

महर्षि पाणिनि के अनुसार आत्मा शब्द 'अत्' धातु से मनिन् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। अत् सातत्यगमने धातु गमन करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अर्थात् जो निरन्तर गमन करता है। अतः सतत गमन करने के कारण जाग्रत रहता है तथा सर्वत्र व्याप्त है, उसे आत्मा कहा गया है। आचार्य यास्क अत् धातु के साथ-साथ 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से भी आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं। अमरकोषकार ने भी आत्मा का अर्थ चित्त, धृति, यत्न, धिषणा (बुद्धि), शरीर, परमात्मा, जीव, अर्क, हुताशन तथा वायु किया है।[1] संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी में आत्मा का अर्थ Soul, Breath तथा Principle of life किया है।[2]

शब्दकल्पद्रुम में आत्मा को यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म तथा देह का अभिधायक कहा है।[3] ऋग्वेद में आत्मा शब्द का अर्थ श्वास या प्राणवायु प्राप्त होता है।[4] इसी प्रकार उपनिषदों में भी आत्मा एवं प्राण का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

आत्मा का स्वरूपः-

उपनिषद् वाङ्मय के अनुशीलन की श्रुतियों से ज्ञात होता है कि उपनिषद् के ऋषि आत्मा का ब्रह्म के रूप में साक्षात्कार कर चुके थे। उपनिषदों में वर्णित 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि वाक्य यह प्रमाणित करते हैं कि उपनिषद् के ऋषियों को

---

1. आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे।
   परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः।। अमरकोष पृ० 70
2. संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी, Volume-1 (प्रसाद प्रकाशन पूना) पृ० 393
3. शब्दकल्पद्रुमः (प्रभमो भागः) पृ०-172
4. आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भः। ऋग्वेद- 10/16/3

आत्मा शब्द से ब्रह्म ही अभिप्रेत है। मुण्डकोपनिषद् में आत्मा को नेत्रों से न देखे जाना वाला, वाणी से अप्राप्त, इन्द्रियों से अलभ्य, तप तथा कर्मों से अप्राप्य बताया है उसे केवल ज्ञान से शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति के द्वारा ध्यानमग्न होकर जाना जा सकता है।[1] आत्मा के विषय में वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद्कार कहते हैं कि आत्मा अणु अर्थात् सूक्ष्म है, जो कि इन्द्रियों के द्वारा नहीं अपितु चित्त के द्वारा जाना जा सकता है। परन्तु इस चित्त में प्राण पाँच भागों में विभक्त होकर प्रविष्ट हो गया है और प्राणों के साथ यह चित्त उसी प्रकार पिरोया गया है जैसे धागों में मोती पिरोए होते हैं। चित्त को विषयों से हटाकर ही इस आत्मा की आभा दिखाई देती है।[2]

छान्दोग्योपनिषद् में आत्मा को निष्पाप, अजर-अमर, अभय, पिपासारहित और सत्य संकल्प युक्त कहा गया है।[3] बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि वह अन्तर्यामी एवं अमृतत्व से युक्त कहा है।[4] श्वेताश्वतरोपनिषद् मे आत्मा को एक ऐसे हँस के रूप में चित्रित करते हुए कहा है कि जो इस शरीर रूपी नौ द्वारों वाली नगरी में निवास करते हुए बाहर निकलने के लिए प्रयासरत रहता है।[5]

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा की व्याख्या करते हुए इस को अप्रमेय, ध्रुव, एक संख्या वाली, महान्, निर्मल तथा आकाश से भी बढ़कर स्वीकार किया है। वहीं पर उपनिषदकार लिखते है अप्रमेय तथा ध्रुव आत्म तत्त्व को विविधता में नहीं एकता में देखना चाहिए। यह आत्मा महान् ध्रुव है, मल रहित तथा आकश से भी परे है।[6] पुनः इस उपनिषद् में आत्मा के स्वरूप को बताते हुए कहा कि यह जो महान् तथा अजन्मा आत्मा है, वह विज्ञानमय है तथा प्राणों में ही निवास करता है।[7] यह आत्मा अशीय अर्थात् नष्ट होने वाला अग्राह्य असंग अर्थात् लिप्त न रहने वाला है, समस्त

1. न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
   ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।। मुण्डकोपनिषद् 3/1/8
2. एषोऽणुरात्मा चेतसा विदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
   प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।। वही-03/01/19
3. एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो, विमृत्युः विशोकोऽविजिघत्सोऽणुपिपासः
   सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। छान्दोग्योपनिषद् 08/01/5
4. यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः।
   शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतम्।। बृहदारण्यकोपनिषद्-3/7/16
5. नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/18
6. एकधैवनुद्रष्टव्यमेतदप्रेयं ध्रुवम्।
   विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः।। बृहदारण्यकोपनिषद 4/4/20
7. स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हदय आकाशस्तस्मिञ्छेते। वही 4/4/22

बन्धनों से रहित है साथ ही यह नेति-नेति के द्वारा जाना जा सकता है।[1] वहीं पर आत्म विषयक चिन्तन करते हुए कहा है कि वह दृष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य तथा ध्यातव्य है।[2]

कठोपनिषद्कार ने आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि यह अजन्मा, अमर व शाश्वत है।[3]

आत्मा का शरीर में स्थान :-

आत्मा का शरीर में कहाँ स्थान है? इस विषय में विभिन्न उपनिषदों में वर्णन प्राप्त होते हैं कि कठोपनिषद् में आत्मा का स्थान हृदय में अणु रूप में होता है। वहाँ स्पष्ट रूप से वर्णित है कि हृदय की एक सौ नाडियों में से एक नाड़ी मूर्धा में जाकर मिलती है, उससे ऊपर की ओर आत्मा जाकर मुक्त होता है।[4] वहीं प्रश्नोपनिषद् में हृदय को आत्मा का स्थान स्वीकार किया गया है।[5] छान्दोग्योपनिषद् में आत्मा के स्थान के विषय में वर्णन मिलता है कि कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच के गर्त में कमलाकार के स्थान में आत्मा रूप परमेश्वर विराजमान है।[6]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपनिषदों में आत्मा का स्थान हृदय प्रदेश बताया गया है।

प्राण एवं आत्मा का सम्बन्ध :-

आरण्यक तथा उपनिषदों में 'प्राण' एवं 'आत्मा' का अटूट सम्बन्ध बताया गया है। कठोपनिषद् में प्राण एवं आत्मा का सम्बन्ध इस प्रकार दिखाया गया है-

आत्मा प्राण को ऊपर की ओर तथा अपान को नीचे की ओर धकेलता है। 'प्राण' एवं 'आत्मा' इन दोनों के बीच में सुन्दर जीवात्मा रहता है, जिसका अनुकरण समस्त इन्द्रियाँ करती हैं।[1]

---

1. स एष नेति नेत्यात्माखगृहयो न हि गृह्यतेखशीर्यो न हि सज्यते। वही- 4/4/23
2. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्य तथा निदिध्यासितव्य। वही- 2/4/5
3. न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुतश्चिन्न वभूव कश्चिद्।
   अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे। कठोपनिषद्- 2/18
4. शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिसृतका।
   तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतिविष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। कठोपनिषद् 6/16
5. हृदि ह्येष आत्मा। प्रश्नोपनिषद् 3/6
6. अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिनन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति। छन्दोग्योपपिनषद्- 8/1/1

मनुष्य प्राण या अपान से जीवित नही रहता है, बल्कि उसे जीवित रखने वाली कोई और ही शक्ति है और वह शक्ति है आत्मा[2] यम और नचिकेता संवाद में नचिकेता के द्वारा यम से आत्मा के विषय में पूछे गये प्रश्नों के प्रत्युत्तर में यम नचिकेता से कहते हैं कि हे गौतम वंश में उत्पन्न नचिकेता! अब मैं तुम्हें बताता हूँ कि मरने के बाद आत्मा की क्या गति होती है?[3] व्यक्ति अपने-अपने कर्मानुसार अलग-अलग योनियों को प्राप्त होते हैं और जो पापात्मा हैं, वह स्थाणु इत्यादि बन जाते हैं।[4]

बृहदारण्यकोपनिषद् मे कहा गया है कि पुरुष के चमकने मात्र से आत्मा शरीर के किसी भी भाग से निकल जाती है ओर साथ ही प्राण भी निकल जाते हैं। तदुपरान्त समस्त इन्द्रियाँ भी पीछे-पीछे निकल जाती हैं।[5]

ब्रह्मोपनिषद् में आत्मा को पुरुषरूप प्राण कहा गया है।[6] अथर्ववेद के मन्त्र में प्राण एवं आत्मा दोनों को निर्दोष बताया है। साथ ही वहाँ प्राण व अपान को भी निर्दोष कहा है।

'अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे।
प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः।[7]

ऐतरेयारण्यक में तो प्राण को साक्षात् आत्मा ही कहा गया है।

---

1. ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
   मध्ये वामनामासीनं विश्वे उपासते।। कठोपनिषद्- 5/3
2. न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
   इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितो।। वही- 5/5
3. हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातमम्।
   यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम।। वही- 5/6
4. योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
   स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाककर्म यथाश्रुतम्।। वही 5/5, 6
5. हैतस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्धो बाखन्येभ्यो वा शरीर देशेभ्यसतमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा। अनूत्क्रामन्ति... स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोयो प्राणमयः चक्षुर्मयश्च श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमय वायुमयो भवति। बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/2-6
6. स आदित्यश्च विष्णुश्चेश्वरश्च स पुरुषः स प्राणः सजीवः।
   सोऽग्निः सेश्वरश्च जाग्रन्तेषां मध्ये व्यत्परं ब्रह्म विभाति।। ब्रहमोपनिषत् (उपनिषद्संग्रह) पृ० 167
7. प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, अथर्ववेद भाष्यम्, 19/51/1

प्राण आत्मा[1]

अथर्ववेद में प्राण व आत्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है, प्राण को आत्मा का वाहन बताया है क्योकि वह आत्मा प्राण रूपी हंस पर चढ़कर आती है, उस हंस पर ही उड़ जाती है।[2]

इस आत्मा को प्राण में रहने वाला कहा गया है। साथ ही उसे महान् अजन्मा व विज्ञानमय कहा है।[3]

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि उपनिषदों के अनुसार आत्मा अणु के समान सूक्ष्म रूप है, जो अजर, अमर, अभय और सत्य संकल्प वाला है। जिसकी परिकल्पना अमृत व अन्तर्यामी के रूप में की गई है तथा इस आत्मा का प्राणों के साथ शाश्वत सम्बन्ध है। अतः इसको भगवद्गीता में भी सूक्ष्मरूप में तथा अजर, अमर, अजन्मा व्याख्यायित किया है तथा प्राण के साथ आत्मा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और शरीर से आत्मा के निकल जाने पर प्राण निकल जाते हैं।

✦✦✦

1. ऐतरेयारण्यक, 3/2/6
2. अथर्ववेद संहिता प्राण सूक्त 11/4/21
3. बृहदारण्यको०, 4/4/22/भाष्य (पृ० 288)

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (119-124) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

योग दर्शन में कैवल्य का स्वरूप

-डॉ. ऊधम सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, योग विज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

डॉ. ईश्वर भारद्वाज, प्रोफेसर

योग विज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारतीय दार्शनिक जगत् में "मोक्ष" के विषय में बहुत ही अधिक चिंतन हुआ है। दर्शन की सभी धाराओं में मोक्ष के स्वरूप निर्धारण के सिद्धांतों का वर्णन प्राप्त होता है। परंतु सभी के विचारों में मतभिन्नता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। चार्वाकों के अनुसार शरीर का नाश ही मोक्ष है। बौद्ध एवं जैन दर्शन के चिंतकों ने मोक्ष को निर्वाण शब्द से परिभाषित किया है। निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, ब्रह्मज्ञान और कैवल्य आदि शब्दों का अर्थ एक दूसरे से भिन्न नहीं है। यह एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

कैवल्य का अर्थः

महर्षि पतंजलि ने मोक्ष के लिए कैवल्य शब्द का निर्वचन किया है। **"केवलस्य भावः कैवल्यम्"** अर्थात् केवल होने का भाव कैवल्य कहलाता है। इसे सरल शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं- केवल वही होना। आत्मा अपने आप में और किसी के साथ उसका संबंध न हो। **"केवलस्य सर्वोपाधिवर्जितस्य भाव इति"** अर्थात् समस्त उपाधियों से रहित हो जाना ही केवल है। **"कैवलस्य औपाधिक सुखदुःखादि रहितस्य चित्स्वरूपस्य भावः"** अर्थात उपाधि रूप सुख-दुख रहित चैतन्य स्वरूप स्थिति कैवल्य है।

बंधन और मोक्षः

योग दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष का संयोग ही बन्धन का कारण है। पुरुष और प्रकृति के बीच वियोग को ही मोक्ष का कारण माना गया है। पुरुष का

बन्धनग्रस्त होना ही समस्त दु:खों का कारण है। प्रकृति त्रिगुणी होने के कारण चित्त भी त्रिगुणात्मक है। प्रकृति के साथ पुरुष का संयोग होने से पुरुष अपने आपको कर्त्ता समझकर सुख-दु:ख को प्राप्त होता रहता है। कर्ता भाव आने पर कर्म के परिणामों का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है विषय-भोगों में आसक्ति के कारण वासनाएं निर्मित हो जाती हैं। वासनाओं का मूल कारण अविद्यादि क्लेश हैं। इन्हीं के कारण जाति, आयु और भोग का चक्र निरंतर चलता रहता है। वासनायें चित्त के आश्रित रहती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में जिजीविषा देखी जाती है। जीव की कामना रहती है कि वह सदैव जीवित रहे। व्यक्ति को जन्म से ही मृत्यु का भय रहता है। यह मृत्यु का भय जन्म-मरण के चक्र जो अनादि काल से सतत प्रवाहमान है। सतत अनादि समय से चले आ रहे मृत्यु और जन्म के कारण वासनायें भी अनादि ही हैं। आविर्भाव और तिरोभाव का निरंतर प्रवाह होने से वासनाएँ भी प्रवाहमान हैं।

वासनाएँ असंख्य हैं।[1] इनकी गिनती करना संभव नहीं है। वासनाएँ ही चित्त की अशुद्धि का कारण हैं। वासनाएँ हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन पर आधारित हैं।[2] ये चारों वासनाओं के संग्रह का कारण हैं। इनमें प्रथम है हेतु। वासनाओं का हेतु अविद्यादि क्लेशों[3] को माना गया है। जिस प्रकार क्लेशों का कारण अविद्या है, उसी प्रकार वासनाओं का भी मूल कारण अविद्या है। द्वितीय आधार है फल। वासनाओं के कारण शुभ-अशुभ कर्मों का फल जाति, आयु और भोग के रूप में प्राप्त होता है।[4] तीसरे क्रम पर आश्रय है। वासनाएँ किसी भी प्रकार की हों, उनका आश्रय हमेशा चित्त होता है। चित्त में ही वासनाएँ, कर्म संस्कार संग्रहीत रहते हैं। इसमें चौथे क्रम में आता है आलम्बन। जिन कारणों से वासनाओं के बीज अंकुरित होते हैं, वे आलम्बन हैं। इंद्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध आदि वासना के आलम्बन हैं।

जब तक हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन रहेंगे तब तक वासनाएँ रहेंगी। वासना इन्हीं में सिमटी, संग्रहीत रहती हैं। इन्हीं के अस्तित्व से उभरती, फलवती और संग्रहीत होती रहती हैं। वासनाओं के रहते जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा प्राप्त करना असंभव है। वासनाएँ अनादि अवश्य हैं, लेकिन स्थायी नहीं। इनका उच्छेद भी संभव है। जिन कारणों से वासनाएँ उत्पन्न होती है, उन कारणों को नष्ट कर दिया

---

1. तदसंख्येयवासनाभिश्चत्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्। पातंजल योग सूत्र 4/24
2. हेतुफलाश्रयालम्बनै संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः। पातंजल योग सूत्र 4/11
3. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच कलेशाः। पातंजल योगसूत्र 2/3
4. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा। पातंजल योगसूत्र 2/13

जाये तो वासनाएँ भी नष्ट हो जाएंगी। अविद्यादि क्लेशों के समाप्त होने से ही वासनाओं का नाश संभव है। इनके नाश होने से जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त हो सकता है।

अविवेक के कारण प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है जो कि विवेक ज्ञान के उदय होने पर नष्ट हो जाता है। विवेक के उदय होने पर अविवेक समाप्त हो जाता है। अविवेक के समाप्त होने पर जन्म-मरण रूपी बंधन की समाप्ति हो जाती है। इसे ही कैवल्य अथवा मोक्ष कहते हैं। अविद्या के नष्ट होने पर आत्मा और बुद्धि का संबंध समाप्त हो जाता है। चित्त अपने कारण मूल प्रकृति में स्थित हो जाता है। इसे ही कैवल्य कहते हैं।

चित्त का कैवल्य की ओर उन्मुख होना:

चित्त के दो पथ हो सकते हैं। एक वह पथ जिसमें चित्त वासना की ओर झुकाव रखता है, वहीं दूसरा विवेक ज्ञान की ओर झुका हुआ चित्त। प्रथम जो वासना की ओर झुकाव वाला चित्त है वह सभी साधारण मनुष्यों का नित्य-प्रतिदिन का अनुभव है। लेकिन दूसरी जो चित्त की अवस्था है, वह सहज साधारण नहीं है। वह तो योगाभ्यास जैसे महापुरुषार्थ का ही सुफल है। इसी को महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार व्याख्यायित किया है-**"तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्"**[1] अर्थात् उस समय विवेक में झुका हुआ योगी का चित्त कैवल्य की ओर उन्मुख हो जाता है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि व्यास ने कहा है कि योगी का चित्त जो पहले विषयों की ओर उन्मुख होकर अज्ञान-अविद्या के मार्ग का अनुसरण करने वाला था, वही चित्त योगाभ्यास से जनित विवेक ज्ञान की अवस्था में कैवल्याभिमुख हो जाता है।

इस अवस्था में घटित होता है कैवल्य:

कैवल्य की अवस्था प्राप्त करना प्रत्येक योग साधक का संकल्प होता है। यह अवस्था कब प्राप्त होती है महर्षि पतंजलि ने कुछ संकेत किए हैं- **"तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्"**[2] अर्थात् विवेकख्याति से वैराग्य होने पर दोषों के बीज-क्षय होने पर कैवल्य होता है।

---

1. पातंजल योग सूत्र 4/26
2. पातंजल योग सूत्र 5/3

इस सूत्र का भाष्य करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं- क्लेश और कर्म के क्षय हो जाने पर योगी को ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है कि यह विवेकख्याति सत्व गुण का ही धर्म है और सत्वगुण भी त्याज्य है। चेतन शुद्धपुरुष अपरिणामी है और सत्वगुण से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार वह विवेकख्याति से भी विरक्त हो जाता है। इस अवस्था में अविद्या आदि क्लेशों के बीज एवं उनके संस्कार सभी दग्ध होकर क्षीण हो जाते हैं, अपने कार्य में समर्थ नहीं होते। इनके नष्ट होने पर पुरुष फिर इस त्रिविध ताप का अनुभव नहीं करता। पुरुष के त्रिगुणों से वियोग होने पर कैवल्य प्राप्त हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने कैवल्य के घटित होने का संकेत इस सूत्र में भी किया है- **"सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति"**[1] अर्थात् रज, तम से मलिन बुद्धि और आसक्ति पूर्ण पुरुष ये दोनों जब समान रूप से शुद्ध हो जाते हैं, तब कैवल्य की प्राप्ति होती है। चित्त प्रकृतिजनित होने के कारण त्रिगुणात्मक है। रजस् व तमस् गुणों की प्रधानता के कारण मलिन रहता है। बुद्धि के रजस् एवं तमस् गुण रूपी मल-विक्षेप समाप्त हो जाते हैं और सत्व रूपी बुद्धि पूर्ण शुद्ध निर्मल हो जाती है, तब पुरुष को बुद्धि से पृथक् होने का बोध होता है। सम्पूर्ण क्लेश, कर्म, संस्कार के बीज समाप्त होते ही पुरुष अपने शुद्धतम स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस प्रकार दोनों की साम्यता से शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य प्राप्त हो जाता है।

योग दर्शन में कैवल्य का स्वरूपः

प्रकृति पुरुष के संयोग से ही सृष्टि सतत रूप से गतिशील है। इस संयोग के दो प्रयोजन होते हैं-प्रथम भोग एवं द्वितीय अपवर्ग। इस संयोग के स्वरूप को समझने के लिए महर्षि पतंजलि के इस सूत्र को समझना आवश्यक है-**"स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः"**[2] अर्थात् संयोग स्व शक्ति तथा स्वामी शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि का कारण है। इसे सरल शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं- जिस संयोग से द्रष्टा तथा दृश्य की स्वरूपोपलब्धि होती है, वह संयोग विशेष ही संयोग है। इस सूत्र में स्व को प्रकृति और स्वामी को पुरुष के स्वरूप में माना है। यह संयोग अविद्या जनित होता है। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन है। प्रकृति पुरुष को भोग और अपवर्ग दोनों उपलब्ध कराती है। इन दोनों के संयोग होने पर भोग और अपवर्ग सम्पन्न हो पाते हैं। पुरुष के द्वारा स्व शक्ति के रूप की उपलब्धि भोग है। तथा

---

1. पातंजल योग सूत्र 5/3
2. पातंजल योग सूत्र 2/2

स्वामी शक्ति को आत्म स्वरूप की उपलब्धि अपवर्ग है। यह तभी सम्पन्न हो पाते हैं, जब स्व और स्वामी का परस्पर संयोग होता है।

कैवल्य की व्याख्या करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं- **"तदभावात्संयोगा-भावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्"**[1]

अर्थात् अविद्या के नष्ट हो जाने से द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (प्रकृति) के संयोग का अभाव हो जाता है। यह अभाव हान है अर्थात् चैतन्य स्वरूप आत्मा का कैवल्य है।

व्यास जी ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है- अविद्या का नाश हो जाने से बुद्धि और पुरुष के संयोग का नाश हो जाता है अर्थात् सांसारिक बंधनों से पूर्णनिवृत्ति हो जाती है। यह निवृत्ति ही द्रष्टा पुरुष का कैवल्य कहलाता है। यह एक प्रकार से गुणों के साथ असंयोग की अवस्था है। दुख के कारण की निवृत्ति होने पर दुख की निवृत्ति हो जाती है। इस अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

गुणों के अधिकार की समाप्ति होने पर कैवल्य कहा गया है। उसी कैवल्य के स्वरूप की व्याख्या करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं- **"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"**[2] अर्थात् पुरुषार्थरूपी भोग व मोक्ष से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है। चिति शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है। गुणों की प्रवृत्ति पुरुष को भोग और अपवर्ग उपलब्ध करने के निमित्त है। इसे ही शास्त्रों में पुरुषार्थ कहा गया है। बुद्धि, अहंकार, तन्मात्र, मन, इंद्रियाँ और पंचमहाभूतादि अब पुरुष के किसी भी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करने से वे अपने कारण में लीन हो जाते हैं। प्रतिप्रसव का अर्थ है कार्य का कारण में लीन हो जाना। प्रसव प्रक्रिया में कारण कार्य के रूप में आविर्भूत होता है। परंतु प्रतिप्रसव प्रक्रिया में कार्य-कारण में तिरोहित हो जाता है। यही गुणों का कैवल्य है।

चिति शक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। इसका तात्पर्य यह है कि जब योगी के चित्त की व्युत्थान वृत्तियाँ रुक जाती हैं, तब व्युत्थान, समाधि एवं निरोध के संस्कार मन में विलीन हो जाते हैं। मन अपने कारण अहंकार में, अहंकार अपने कारण बुद्धि में तथा बुद्धि अपने मूल कारण प्रकृति में विलीन हो

1. पातंजल योग सूत्र 2/2
2. पातंजल योग सूत्र 3/2

जाती है। इस स्थिति में प्रकृति और पुरुष का किसी प्रकार का संबंध नहीं रहता है। चिति शक्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। यह स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की अवस्था ही कैवल्य कहलाती है।

कैवल्य भेद:

यह कैवल्य दो रूपों में घटित होता है–जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवनकाल में अर्थात् जीवन के शेष रहते हुए स्वरूपावस्था प्राप्त हो जाये अर्थात् तत्वज्ञान हो जाये तो वह जीवनमुक्ति कहलाती है। शरीर की मृत्यु अर्थात् देह विसर्जित होने पर विदेहमुक्ति कहलाती है।

कैवल्य प्राप्ति के उपाय:

कैवल्य प्राप्ति के उपाय बताते हुए महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में लिखा है– **"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः"**[1] अर्थात् शुद्ध विवेकख्याति हान का उपाय है। मिथ्याज्ञान रूप विप्लव (हलचल) रहित विवेकख्याति ही अविद्या की निवृत्ति का तथा कैवल्य का हेतु है। शास्त्रों के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि वह परोक्ष ज्ञान है। विवेकख्याति अपरोक्ष ज्ञान है, इसलिए अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

महर्षि व्यास ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि सत्व बुद्धि और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान विवेकख्याति है। वह मिथ्याज्ञान से पूर्णतया रहित न होने पर भग्न हो जाती है। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीज होकर संस्कार के फलीभूत होने में सक्षम नहीं रह जाता है तब क्लेशों एवं रजोगुण से रहित सत्व बुद्धि के होने पर वशीकार वैराग्य की अनुभूति में स्थित होने पर विवेक ज्ञान का प्रवाह निर्मल होता है। यही अखण्डित विवेकख्याति हान अथवा कैवल्य का उपाय है।

कैवल्य का कारण विवेकख्याति, उसको प्राप्ति के उपाय:

महर्षि पतंजलि ने योगांगों के अनुष्ठान करने से भी विवेकख्याति की उत्पत्ति का उल्लेख किया हैं–**"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः"**[2] अर्थात् योग के अंगों का अनुष्ठान करने से तन, मन, बुद्धि, चित्त में व्याप्त मलों का विनाश होता है और विवेकख्याति के उदय होने तक ज्ञान का प्रकाश होता जाता है।

✦✦✦

1. पातंजल योग सूत्र 2/2
2. पातंजल योग सूत्र 2/28

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (125-129) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक भूगर्भ-विज्ञान

डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री
वेदविभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भूगर्भशास्त्र वह विज्ञान है जो प्रकृति के जैविक और अजैविक जगत् में निरन्तर हो रहे परिवर्त्तनों का अध्ययन ही नहीं करता अपितु ऐसे परिवर्त्तनों के कारणों की खोजबीन भी करता है। अपने विस्तृत अर्थ में भूगर्भशास्त्र पृथ्वी की उत्पत्ति एवं संरचना के सम्बन्ध में ज्ञात सभी तथ्यों एवं अज्ञात सम्भावनाओं की व्याख्या करता है। चार्ल्स लायल पूछते हैं कि धरती किन तत्त्वों से बनी है और ये तत्त्व किस ढंग से व्यवस्थित हैं? हम इन प्रश्नों का उत्तर वेद और वैदिक साहित्य के आधार पर देने का प्रयत्न करेंगे।

हम यह जानते हैं कि अतीत में इस विषय पर लिखी गई, बहुत-सी सामग्री असहिष्णु विदेशी आक्रान्ताओं के कारण नष्ट हो गई। जिन्होंने हमारी धरती पर आक्रमण कर पुस्तकालयों में उपलब्ध विशाल साहित्य को आग लगा दी। फिर भी उपलब्ध साहित्य के आधार पर उपर्युक्त सन्दर्भ में हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भूगर्भ-विज्ञान विद्या को **'निधि'** नाम से कहा गया है।[1] स्वामी वेदानन्द तीर्थ के अनुसार इस **'निधि'** अर्थात् भूगर्भविज्ञान व खनन विज्ञान में धातु आदि का खनन, जल, पुरीष (पैट्रोल) आदि के खनन का विज्ञान भी सम्मिलित है।[2]

डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने भी Oil & Natural Gas के लिए यजुर्वेद 11.32, 11.28 के आधार पर **'पुरीष्य अग्नि'** नाम स्वीकार किया है।[3]

---

1. ऋग्वेदं भगवो अध्येमि.......निधिं वाकोवाक्यम्......देवविद्याम् अध्येमि। (7वाँ प्रपाठक, प्रथमखण्ड)
2. 'हम संस्कृत भाषा क्यों पढ़ें?', पृ. 26, विरजानन्द वैदिक संस्थान, 1973 ई.।
3. देखो, 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति', पृ. 335, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

सृष्टि-पूर्व की स्थिति के बारे में ऋग्वेद 10.129.1 में कहा है[1]- कि उस समय सृष्टि-काल से पूर्व प्रलयावस्था में शून्य नहीं था- नितान्त अभाव नहीं था तथा सत् अर्थात् प्रकटरूप में भी कुछ वर्त्तमान न था। रञ्जनात्मक प्रदेश कणमय गगन अर्थात् अन्तरिक्ष लोक भी न था। विश्व का सीमावर्त्ती आकाशखगोल भी न था। पुनः कौन अत्यन्त घेरने योग्य परिसीमित करने योग्य है- किसको परिसीमित किया जावे ऐसा कुछ भी न था। घेरने योग्य वस्तु के घेरने का प्रदेश भी कहाँ अर्थात् कहीं नहीं, कोई नहीं था, तथा किसके सुख-शान्ति के निमित्त गहन, गम्भीर सूक्ष्म जल भी क्या हो अर्थात् कुछ नहीं था जिससे कि भोग्य सामग्री उत्पन्न होती है जिसमें कि आरम्भ सृष्टि में बीज ईश्वर डालता है।[2]

धरती के निर्माण की अवस्था- भारत के सबसे पहले और सबसे बड़े विधिवेत्ता मनु महाराज ने हमारी धरती के निर्माण की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है-

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तम् इव सर्वतः॥ म. स्मृ. 15॥

अर्थात् यह तमोरूप हुआ-हुआ, अप्रज्ञात (अप्रत्यक्ष), लिंग (परिचायक चिह्न) रहित, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय सब ओर से गहरी नींद में सोया हुआ-सा था।

आरम्भ में सब कुछ विप्लव (Chaos) की अवस्था में था। ईश्वर ने तब जल की संरचना की और उससे पृथ्वी का उदय हुआ तत्पश्चात् उसमें जीवन की उत्पत्ति हुई जिससे अनेकों प्रकार के बीज निकले। तैत्तिरीय संहिता इस विषय पर निम्न प्रकाश डालती है-

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वा अचरत्। स इमामपश्यत् तां वराहो भूत्वाऽहरत्। तां विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट् साऽप्रथत सा पृथिव्यभवत्॥ 7.1.5.1॥

आरम्भ में सब कुछ तरल अवस्था में था जो माना जाता था कि गैसीय अवस्था से उत्पन्न हुआ, और बाद में पृथ्वी के रूप में परिवर्त्तित हुआ। तै. ब्रा. एक कदम आगे बढ़कर कहता है कि "पृथ्वी प्रारम्भ में गैस का जलता हुआ गोला थी जो बाद में तरल हो गई और क्रमशः ठण्डी पड़कर ग्रेनाइट के तत्त्वों के रूप में ठोस आकार में जम गई और जब जीवन ने कमल के रूप में (घास पत्तियाँ आदि) आकार लिया।" इस प्रकार पृथ्वी की भूगर्भीय उत्पत्ति (Geological evolution and

1. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
2. देखो, स्वामी ब्रह्ममुनि, 'वेदाध्ययन-प्रवेशिका'।

configuration of the Earth) हुई और उसकी सतह में तथा बाहरी बनावट में परिवर्त्तन आया। कमल आदि के रूप में जीवन की उत्पत्ति तत्पश्चात् वराह तथा स्तनधारी जीवों की संरचना प्रजापति के द्वारा हुई।

इदं वै अग्रे नैव किञ्चनासीत्।......तदतप्यत।
तस्मात्तेपानाद्धूमोऽजायत। तद्भूयोऽतप्यत। तस्मात्तेपानादग्निरजायत।
ज्योतिरजायत।.. तदभ्रमिव समहन्यत। तद्बस्तिमभिनत्। स
समुद्रोऽभवत्। यदप्सु अवापद्यत सा पृथिव्यभवत्।।

तै.ब्रा. 2.2.9.1; 2.3.4

सोऽपश्यत् (प्रजापतिः) पुष्करपर्णं तिष्ठत्..... स वराहो रूपं
कृत्वा उपन्यमज्जत्। स पृथिवीमधः आर्च्छत्। तस्या उपहत्य
उदमज्जत्।.... ताᳬ शर्कराभिरदृᳬहत्।। तै.ब्रा. 1.1.3.5-6

यहाँ 'वराह' जीव का प्रतीक है और 'कमल' वनस्पतियों का। तै.उ. में भूगर्भीय प्रगति का वर्णन और अधिक स्पष्ट एवं उल्लेखनीय है क्योंकि यह एक विशेषज्ञ की बौद्धिक क्षमता और सही वर्णन करने की शक्ति को दर्शाता है।

उपनिषदों के ऋषि सृष्टि का वर्णन तथा पृथिवी की क्रमशः उत्पत्ति, इसके कारण और प्रभाव के सम्बन्ध में कहते हैं- "परमात्मा ने आकाश का निर्माण किया और उस आकाश के अनन्त विस्तार से वायु का जन्म हुआ, फिर अग्नि का, फिर जल का और फिर उसके बाद गर्म पृथ्वी का, जिसने ठण्डी पड़ने (होने) के बाद जीवन को धारण किया। आरम्भ में जीव का स्वरूप सरल था जो धीरे-धीरे जटिल रूपों (Complex) में परिवर्त्तित हुआ, जिसकी चरम परिणति मनुष्य के रूप में हुई।"

उपर्युक्त कथन किस प्रकार आधुनिक भूगर्भ विज्ञान (Geology) के सिद्धान्त से मेल खाता है यह निम्न बातों से स्पष्ट हो जायेगा-

विविध अश्मीकृत अवशेष (Petrified remains) जिनका वर्णन भूगर्भ विज्ञान के शोधकर्त्ता करते हैं, यह सिद्ध करते हैं कि मनुष्य की रचना के पूर्व जीवन जीव (Animals) और वनस्पति के सरल आकारों में विद्यमान था। प्रो. दाना, अमेरिकी भूगर्भ वैज्ञानिक कहते हैं कि धरती पर मनुष्य के जन्म के बाद कोई नया जानवर या वनस्पति का जन्म नहीं हुआ। 'डेविड्स जियोलोजी' के अनुसार भूगर्भ वैज्ञानिकों ने प्राप्त प्रमाणों के आधार पर जो उन्होंने पृथ्वी की बाहरी परत और चट्टानों के निर्माण से प्राप्त किया है, यह निष्कर्ष निकाला है कि धरती अपने गर्म तरल स्वरूप से क्रमशः ठण्डी होकर वर्तमान तापमान में आयी। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हम

ऋग्वेद में पूरी तरह से पाते हैं-

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः
पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। 2.12.2

अर्थात् धरती आरम्भ में कम्पायमान थी जिसे इन्द्र ने स्थिर किया (अपनी तरल अवस्था से यह ठोस अवस्था में आयी)। उन्होंने हिलते हुए पर्वतों को स्थिर किया। इस मन्त्रांश का अर्थ स्वामी ब्रह्ममुनि ने इस प्रकार किया है- "जिसने व्यथमाना-हिलजुल करती हुई- तरल रूप में हुई पृथिवी को दृढ- स्थिर कर दिया- करता है। जिसने प्रारम्भ में उद्विग्न से अस्थिर हुए पर्वतों को संयमित किया- ठहरा दिया- ठहरा देता है।"

स प्राचीनान्पर्वतानदृंहद्
ओजसाऽधराचीनमकृणोदपामपः।
अधारयत् पृथिवीं विश्वधायसम्
अस्तभ्नान्मायया द्यामवस्त्रसः॥ ऋ. 2.17.5

अर्थात् इन्द्र ने भाप के बादलों से जल प्रवाहित किया। इस तरल तरल अवस्था को उन्होंने अपनी शक्ति से समाप्त कर पर्वतों को स्थिर किया। अथर्ववेद कहता है कि सृष्टि की रचना तरल स्वरूप से हुई- **'सलिलो....प्रथमजा ऋतस्य'।** ऋग्वेद आगे कहता है-

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। 10.97.1

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत। 10.72.2

अर्थात् प्रारम्भिक काल में उत्पन्न वनस्पतियाँ[1] देवों (जीवों) से तीन युग पहले आयीं। आरम्भिक काल में असत् (अव्यक्त) से सत् व्यक्त की उत्पत्ति हुई।[2]

---

1. फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः। ओषध्यः फलपाकान्ता लतागुल्माश्च वीरुधः॥ (काशिकावृत्ति 8.4.6 में उद्धृत वचन)। अर्थात् जिनमें केवल फल लगते हों पुष्प न आते हों, ऐसे पेड़ वनस्पति कहाते हैं। यथा- गूलर आदि। जिनमें पुष्प और फल दोनों आते हैं वे वृक्ष कहाते हैं। यथा- आम आदि। जिनका फल पकने के पश्चात् नाश हो जाए ऐसे उद्‌भिज ओषधि कहाते हैं। यथा- गेहूँ, जौ, चना, उड़द आदि। लताएँ और गुल्म (झाड़ियाँ) वीरुद् कहाती हैं। वनस्पति, वृक्ष और ओषधि का ऐसा ही लक्षण मनुस्मृति (1.46, 47) में मिलता है। चरक सूत्रस्थान (1.72) भी इस विषय में द्रष्टव्य है।
2. Herbs that sprang up in time of old, were three ages earlier than human beings, In an earlier age Sun and other objects sprang from unmanifest nature Existence in an earlier age of Gods, form non-existence sprang. (Chips from a Vedic work-shop. By Inder dev Khosla, pages 110, 197)

यदि हम उपर्युक्त कथन की व्याख्या करें तो हम आधुनिक पाश्चात्त्य भूगर्भ विज्ञान के सिद्धान्त और जो कुछ भी इस विषय में ऋग्वेद में कहा गया है, दोनों में समानता पाते हैं। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति में सबसे पहले वनस्पतियों का जन्म हुआ, फिर प्रारम्भिक जीव (पशु आदि) आये और अन्त में मनुष्य आया। ऋग्वेद की उपर्युक्त दो ऋचाओं से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सिद्ध होता है कि जीवों की उत्पत्ति से तीन युग (Three epochs) पहले वनस्पतियों (ओषधि यों) की उत्पत्ति हुई। मानव का आगमन तीन युगों के पश्चात् हुआ और पूर्व युग में असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। आरम्भ में पृथिवी की अवस्था जीवन-धारण करने के योग्य नहीं थी। जीवन इस पर तब आया जब उबलता हुआ जल (लावा) ठण्डा हुआ।

सारांश में हम कह सकते हैं कि वेदों में पृथ्वी की उत्पत्ति और इस पर जीवन के आगमन का वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है। हमारे ऋषियों ने ये बातें लाखों वर्ष पूर्व कह दीं जिन्हें आज का विज्ञान सिद्ध करने में लगा है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (130-135) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक युगीन वस्त्रालंकरण विधान का समीक्षात्मक अध्ययन

-प्रो० प्रभात कुमार
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सारांश -

जहां एक ओर सिंधु सभ्यता के अध्ययन हेतु पुरातात्त्विक स्रोतों पर ही निर्भर रहना पड़ता है वहीं वैदिक युगीन सभ्यता के सम्बन्ध में ज्ञान का सबसे बड़ा स्रोत वैदिक साहित्य है। वैदिक साहित्य भारतीय सभ्यता के हजारों वर्षों से अधिक विकास के इतिहास का भण्डार है, तथापि वैदिक संहिताओं से लेकर ब्राह्मणों और उपनिषदों में आनुषंगिक रूप से वस्त्रों की जो भी चर्चा प्राप्त होती है उसमें समानता मिलती है। जिससे यह प्रतीत होता है कि वैदिक काल में लगभग आठ सौ वर्षों तक विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। वैदिक युगीन समाज पशुपालन एवं कृषि पर निर्भर था और आरंभिक काल में वे गांवों में रहते थे। गृह निर्माण, बढ़ईगिरि और रथ बनाने की कला में वे निपुण थे। विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषणों का निर्माण वे कर सकते थे वे कपड़े भी बुन सकते थे। सीने-पिरोने, चमड़े कमाने और मिट्टी के बरतन बनाने की कलाओं से भी वे परिचित थे।

मूल शब्द - वैदिक, वस्त्र, अलंकार, वस्त्रालंकरण।

भूमिका -

वस्त्र शब्द वस + ष्ट्रन् दो शब्दों के मेल से बना है जिसका अर्थ होता है परिधान, कपड़ा तथा वेशभूषा। वेदों में वस्त्र[1] शब्द परिधान का द्योतक है, जिसका

1. सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, ऋग्वेद (सुबोध भाष्य), स्वाध्याय मण्डल पारडी, 1985, पृ० 248, 196, 188, 214
   'वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति।' (5/47/6)
   'वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्' (5/29/15)
   'आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते' (9/96/1)
   'अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षा' (9/97/50)

अर्थ है धारण करने योग्य वस्त्र। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त 'वासस्'[1] शब्द का तात्पर्य स्त्री एवं पुरुष दोनों के सिले हुए तथा बिना सिले हुए सभी प्रकार के वस्त्रों का सूचक है। अंशुक[2] प्रायः शरीर के ऊपरी भाग में धारण किया जाने वाला वस्त्र था जिसका निर्माण सूत्रों के द्वारा किया जाता था। इसके अतिरिक्त अधिवास[3], नीवी[4], द्रापि[5], शामूल्यादि[6], पदविशिष्ट परिधान के द्योतक हैं। नये वस्त्र आहत-वस्त्र कहलाते हैं तथा जिन वस्त्रों की सिलाई भली प्रकार से की जाती थी और जो उत्तम श्रेणी के वस्त्र होते थे वे 'सूसंवीत' कहलाते थे। वस्त्र मानव की मूल आवश्यकताओं में से एक हैं। साथ ही ये मानव शरीर के सर्वश्रेष्ठ अलंकरण भी हैं। वस्त्र मानव संस्कृति एवं सभ्यता को प्रदर्शित करने का माध्यम भी हैं। इनके द्वारा मानव समाज के देशकाल, वर्ण, जाति, समुदाय आदि की पहचान की जा सकती है, वैभव या दरिद्रता के स्तर का आंकलन किया जा सकता है। परिधान शैली से कलात्मक रुचि तथा सौन्दर्य भावना का बोध होता है।

वैदिक काल में कातने और बुनने के लिए भेड़ों के ऊन का प्रयोग किया जाता था इसी लिए भेड़ को ऊर्णावती[7] कहा गया और ऊन को आविक[8]। ऋग्वेद में पूषन् द्वारा ऊनी वस्त्र बिनने का भी उल्लेख है।[9] कंबल और शामुल्य स्त्रियों एवं

---

1. वही, पृ० 76, 297, 335
   'युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससो ऽभ्यायंसेन्या भवतं मनीषिभिः' (1/34/1)
   'यदेदयुक्त हरितः यधस्था दाद्री वासस्तनुते सिमस्मै' (1/115/4)
   'जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः' (1/124/7)
2. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृ० 41
3. सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, पूर्वोक्त, पृ० 378,
   'अधीवासं परि मातू रिहन्नह तुविग्रेभिः सत्वभिर्याति वि ज्रयः' (1/140/9)
4. सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर (संपादक), अथर्ववेद (अथर्ववेद का सुबोध भाष्य), स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1985, पृ० 222
   'तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम' (14/2/50)
5. सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, पूर्वोक्त, पृ० 222
   'प्रति द्रापिममुञ्चथाः पवमान महित्वना' (ऋग्वेद, 9/100/9)
6. सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, पूर्वोक्त, पृ० 31
   'परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु' (अथर्ववेद, 14/1/25)
7. ऋग्वेद, 8/67/3
8. बृहदारण्यक उपनिषद, 2/3/6
9. ऋग्वेद, 10/26/6

पुरुषों द्वारा नित्य धारण किये जाने वाले वस्त्र थे।[1] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में मरुत् द्वारा हिरन की खाल पहनने का विवरण भी प्राप्त होता है। हिरण की खालें पहन कर[2] और उन्हीं के चमड़े की बनी ढालें लेकर देवगण शत्रुओं में भय उत्पन्न करते थे। 'दूर्श'[3] नामक कपड़े का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। पालि साहित्य में भी दुस्स नाम के कपड़े का उल्लेख आया है। क्षुमा अथवा अतसी की छाल के रेशे से बने हुए वस्त्र का सर्वप्रथम उल्लेख मैत्रायणी संहिता और तैत्तिरीय संहिता में आया है।[4] आश्वलायन श्रौतसूत्र[5] के अनुसार क्षौम वस्त्र सोमयाग में नेष्ट्रि को दक्षिण रूप में दिया जाता था। मैत्रायणी संहिता[6] के अनुसार पांडव वस्त्रों का प्रयोग यज्ञ के समय पर राजाओं द्वारा किया जाता था। यह भेड़ की ऊन द्वारा निर्मित सफेद वस्त्र होता था।[7] डॉ० सरकार का कहना है कि सम्भवतः पांडव कोरा अथवा रंगीन रेशमी अथवा सूती वस्त्र था।

वैदिक वस्त्रों पर अलंकरण -

वैदिक युगीन वस्त्रों को अलंकृत करने के लिए उन पर रंगाई, छपाई, कढ़ाई तथा रत्नों को जड़ने का कार्य किया जाता था। इस काल में कपड़ों पर बहुधा कसीदे का काम बना होता था। मरुत् कारचोवी के काम वाले कपड़े पहनते थे।[8] कपड़ों के किनारे और झालरें भी होती थीं। सिच[9] शब्द से कसीदा किये हुए किनारे या झालर का बोध होता है। दो ऊपर नीचे के और दो बगल के किनारों का उल्लेख आया है। यज्ञ के अवसर पर कोरे कपड़े पहने जाते थे और अन्य अवसरों पर धुले कपड़ों का धारण करने का विधान था।[10]

वैदिक साहित्य में रंगाई का कार्य करने वाली महिलाओं को रजयित्री[11] कहा

---

1. मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भरती-भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, 1950, पृ० 10
2. ऋग्वेद, 1/166/90
3. अथर्ववेद, 4/7/6, 8/6/11
4. मैत्रायणी संहिता, 3/6/7
5. आश्वलायन श्रौत सूत्र, 2/3/4/17
6. मैत्रायणी संहिता, 4/4/3
7. सरकार, एस. सी., सम आस्पेक्ट्स ऑफ द अर्लियस्ट सोशियल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, हम्फेरी मिलफोर्ड ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1928, पृ० 59
8. ऋग्वेद, 5/55/6, हिरण्यान् प्रति अत्कान्
9. एतरेय ब्राह्मण, 7/32, शतपथ ब्राह्मण, 4/2/2/11
10. ऋग्वेद, 7/33/1, स्तित्यञ्चः
11. यजुर्वेद, 30/12

गया है। इसके अतिरिक्त वेदों के कई मन्त्रों में रंगीन वस्त्रों का वर्णन भी किया गया है, जिसमें पीले, नीले, लाल, हरे, सफेद तथा काले रंगों की प्रधानता है। ऋग्वेद में पीले रंग को 'पिशंग', हरे रंग को 'हरित:' तथा लाल रंग को 'रोहित:' कहा गया है। अथर्ववेद[1] में वधू को विवाह के समय 'नीललोहित' अर्थात् नीले तथा लाल रंग के वस्त्रों से सुसज्जित बतलाया गया है। सुनहले काम वाले रंगीन कपड़े ऊषा की श्रेणी वाली रंगीली स्त्रियां पहनती थीं।[2] व्रात्य गृहस्थ, किनारेदार नीले कपड़े पहनने के शौकीन थे।[3]

संभवत: इन रंगों को वनस्पतियों की जड़, तने, छाल, पत्तों, पुष्पों आरै फलों से प्राप्त किया जाता था। वस्त्रों को रंगने के लिए बड़े-बड़े पात्रों का प्रयोग किया जाता था, जिसमें रंग के शुद्धिकरण हेतु तथा दुर्गन्ध निकालने के लिए रंग को उबाला जाता था। रंग को संरक्षित करने के लिए बड़े-बड़े घड़ों का प्रयोग किया जाता था जो कि मिट्टी में धंसे रहते थे। आधुनिक काल में भी इस प्रक्रिया को अपनाया जाता है। वस्त्रों की सजावट के लिए उनको धोकर रंगा जाता था, तत्पश्चात् झाड़ने, रगड़ने तथा साफ करने के लिए उनको धोकर रंगा जाता था। वस्त्रों को रंगने का कार्य प्राय: रंगरेजों (रजक) को दिया जाता था।

वैदिक काल में रंगीन वस्त्रों के अतिरिक्त छपाई कला से अलंकृत वस्त्रों की भी जानकारी मिलती है। जिन वस्त्रों पर विभिन्न प्रकार की आकृतियां बनी होती थीं ऐसे वस्त्रों को यजुर्वेद में 'विश्वरूपं' वास[4] नाम से सम्बोधित किया गया है। वस्त्रों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियां बनाने के लिए लकड़ी अथवा पत्थर के ठप्पों का प्रयोग करते थे। इसके साथ ही वस्त्रों को रत्नों द्वारा कसीदाकारी, कारचोबी एवं जरदोजी आदि से अलंकृत भी किया जाता था। इस प्रकार के वस्त्र मुख्य रूप से राजाओं एवं राजघराने से सम्बन्धित स्त्रियों तथा नर्तकियों द्वारा धारण किये जाते थे। इन साहित्यिक स्रोतों के अनुसार प्राय: विशेष अवसरों पर पहने जाने वाले अधिकतर वस्त्रों पर शिल्प कार्य किया जाता था, जिसे ऋग्वेद में 'पेशस्' कहा गया हैं।[5] ए. ए. मैकडॉनल एवं कीथ ने वैदिक इन्डेक्स में 'पेशस्' को ऋग्वेद एवं वाजसनेयी संहिता के आधार पर ऐसे कढ़े हुए परिधान के रूप में परिभाषित किया है जिसे

---

1. अथर्ववेद, 14/1/26
2. मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० 16
3. वही, पंचविश ब्राह्मण, 17/14/6
4. यजुर्वेद, 11/40
5. सातवलेकर, श्रीपाद, पूर्वोक्त, पृ० 226, 227, 10, 103, ऋग्वेद, 1/92/4, 1/92/5

नर्तकियां पहनती थीं।[1] कसीदा, काढना, उसे पेशांसि या पेशवाज बनाना मुख्य रूप से स्त्रियों का नियमित व्यवसाय था, जिसके लिए यजुर्वेद[2] में तथा ऐतरेय ब्राह्मण[3] में 'पेशस्कारी' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'निविदों को ऋचाओं का कसीदा कहा गया है।' इस उपमा से यह स्पष्ट है कि यह अलंकरण ताने अर्थात् वस्त्र के ऊपरी भाग तथा मध्य और निचले भागों में किया जाता था। बृहदारण्यक उपनिषद्[4] में भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है जिसके अनुसार 'पेशकारी, एक अलंकार को काढकर जब वह दूसरा अलंकार काढती है तो वह पहले वाले से भी अधिक आकर्षक दिखता है। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के अलंकारों से युक्त वस्त्रों को अत्क[5] एवं द्रापि[6] कहा गया है। इन वस्त्रों को अलंकृत करने के लिए इनमें किनारियां भी लगायी जाती थीं, जिसके लिए वैदिक साहित्य में 'सिच'[7] शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में 'अत्क' शब्द का प्रयोग सिले हुए वस्त्रों के लिए किया गया है जिन्हें प्रायः पुरुषों द्वारा धारण किया जाता था। यह लम्बा, पूरे शरीर को ढंक लेने वाला, चमकीला, सुन्दर तथा सोने के तारों से बना हुआ होता था। इस युग में सर्वधारण जन धोती दुपट्टा पहनते थे। धोती के लिए चार शब्द यथा अंतरीय, उपसंव्यान, परिधान और अधोंशक आये हैं।[8]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैदिक युगीन समाज में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का व्यापक रूप से प्रचलन था। कातने और बुनने का कार्य प्रायः स्त्रियों के जिम्मे था। अथर्ववेद के एक रूप में रात्रि और दिवा को भगिनी मान कर उन्हें वर्षरूपी कपड़े बुनते बताया गया है। इसमें रात को ताना और दिन को बाना माना है। कपड़े बुनने वाली स्त्रियों के लिए 'वायितृ' और सिरी शब्दों का प्रयोग हुआ है।

---

1. मैकडॉनल, ए.ए. एवं ए. बी. कीथ, रामुमार राय (अनुवादक), वैदिक इण्डेक्स, भाग 2, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1962, पृ० 25-26
2. यजुर्वेद 30/9
3. ऐतरेय ब्राह्मण, 3/10
4. बृहदारण्यक उपनिषद 4/4/4
5. ऋग्वेद, 1/95/7, 1/122/2, 2/35/14
6. 'प्रति द्रापिममुंचथाः पवमान महित्वना' (9/100/9), 'बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययम्'(1/25/13), ऋग्वेद, पूर्वोक्त, पृ० 52, 222
7. पितुर्न पुत्रः सिचमा रभे ते, 3/52/2, मातापुत्रं यथा सिचो 10/18/11, ऋग्वेद, पूर्वोक्त, पृ० 119, 37
8. मोती चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० 18

वस्त्रों को सुसज्जित एवं अलंकृत करने के लिए उन पर पेशेवर रूप से कढ़ाई, छपाई, रंगाई तथा उन्हें सीने का कार्य भी किया जाता था। प्रतीत होता है कि उच्च वर्ग के लोग अधिकांशतः रत्न जड़ित एवं सोने के तारों से बने बहुमूल्य वस्त्रों का प्रयोग करते होंगे एवं जन साधारण के मध्य सामान्य प्रकार के रंगाई एवं छपाई वाले वस्त्रों के प्रयोग का प्रचलन रहा होगा।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (136-139) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी

-डॉ. दे. दयानाथः
सहायकाचार्यः (सं), वेदविभागः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (समविश्वविद्यालयः)
श्रीरणवीरपरिसरः, कोट-भलवाल, जम्मूः-181122

अग्निचयनप्रकरणे तैत्तिरीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे चतुर्थप्रपाठके द्वादशेऽनुवाके वर्तते एषः मन्त्रः-

अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी। इति॥

इतः प्राक् एकादशे अनुवाके ऋतव्याद्यानाम् इष्टकानां चयनमुक्तम्। अस्मिन् द्वादशे अनुवाके याज्यानुवाक्याः उच्यन्ते। अत्र 'अग्नये गायत्रायेति दशहविषं सर्वपृष्ठं निर्वपति समिद्दिशामिति यथालिङ्गम् याज्यानुवाक्याः' इति अश्वमेधप्राकरणिकं कल्पसूत्रं प्रमाणम्। तत्र क्रमशः अग्नये गायत्राय, त्रिवृते राथन्तराय, वासन्तायाष्टाकपालः इति पुरोनुवाक्याः पठ्यन्ते। तत्र 'अदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुः' इत्यस्य 'ध्रुवा दिशाम्' इत्यादिः पुरोनुवाक्याः पठ्यन्ते।

पुरोनुवाक्याप्रसङ्गेऽस्मिन् विष्णुपत्नीनामकस्य शक्तितत्त्वस्य भृशं विवरणं श्रूयते। येन शक्तितत्त्वस्य अनन्यम् एकं रूपं वर्णितं दृश्यते। तद्यथा-

गृणाहि। घृतवती सवितराधिपत्यैः पयस्वती रन्तिराशा नो अस्तु॥
ध्रुवा दिशां विष्णुपत्न्यघोरास्येशाना सहसो या मनोता।
बृहस्पतिर्मातरिश्वोत वायुः सन्धुवाना वाता अभि नो गृणन्तु॥
विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी।
विश्वव्यचा इषयन्ती सुभूतिः शिवा नो अस्त्वदितिरुपस्थे।
वैश्वानरो न ऊत्या पृष्टो दिव्यनु नोऽद्यानुमतिरन्विदनुमते
त्वं कया नश्चित्र आ भुवत्को अद्य युङ्क्ते।[1] **इति।**

अस्मिन् शोधपत्रे विष्णुपत्नीनामकं शक्तितत्त्वं वेदोक्तदिशा निरूप्यते। दिशां मध्ये या ध्रुवा स्थिरा सूर्यगतिसापेक्षप्राच्यात् दिवि भागरहिता समानरूपा दिक्, बृहस्पतिः,

1. तै.सं. 4.4.12

मातरिश्वाख्यः मुख्यवायुः, अन्ये च कम्पमानाः वायवः सर्वेऽपि अस्मान् हितम् उपदिशन्तु। अत्र प्रश्नः उदेति ध्रुवा अर्थात् स्थिरा सा शक्तिः कीदृशी इति। तस्य उत्तरं स्वयं वेदपुरुष एव श्रावयति 'विष्णुपत्नी अघोरा सहसा या मनोता' इति। अर्थात् विष्णुः पतिः पालकः यस्याः सा विष्णुपत्नी इति बहुव्रीहिः आश्रीयते। तथा च अघोरा शान्तरूपा सर्वस्य बलस्य नियामिका मनोता पूजिता इति अर्थः सिद्ध्यति।

अत्र याज्या अपि 'विष्टम्भो दिवः' इति श्रूयते। अखण्डनीया इयं विष्णुपत्नीरूपा शक्तिः अस्मभ्यं शान्तिं सुखं च दद्यात्। पुनः कीदृशी अदितिः इति जिज्ञासायां विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याम् इति समाधानं श्रूयते। तथा च इयं शक्तिः दिवः विष्टम्भः अर्थात् द्युलोकस्य आधारभूता, पृथिव्या धरुणः अर्थात् भूलोकस्य धारयित्री, सर्वस्य अस्य जगतः स्वामिभूता विष्णुपत्नी जगद्व्यापिनी अन्नं बहु कुर्वती शोभनेन ऐश्वर्येणोपेता इति।

अत्र पुरोनुवाक्याभिधानं याज्यानुवाक्याभिधानं च प्रधानम्। तद्यथा विनियोगसङ्ग्रहे सायणः-

अथाश्वमेधे यात्विष्टिः हविर्भिर्दशभिर्युता।
विधीयतेऽग्नये गायेत्यनुवाकेन तत्र च॥
द्वे द्वे याज्यानुवाक्ये स्तामित्यृचो विंशतिस्त्विह॥[1] इति।

एषः मन्त्रः विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते नितरां प्राधान्यं भजते। श्रीश्रीनिवासमखिना विरचिते श्रीवैखानसगृह्यसूत्रतात्पर्यचिन्तामणौ[2] अस्य श्रीतत्त्वस्य अर्थात् शक्तितत्त्वस्य प्रतिपादनं सम्यक् दृश्यते। तथा च 'विश्वस्येशाना' इत्यनेन जगन्नियामकत्वम् उच्यते। 'अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी' इति मन्त्रेणापि जगतः नियन्तृत्वं, स्वेच्छया विष्णुपत्नीत्व-स्वीकरणं च निरूप्यते। आश्वलायनश्रौतसूत्रेऽपि अग्नीषोमीयप्रकरणे शैशिरोऽदितिः विष्णुपत्न्यनुमतिः[3] इति यागविषयकम् अनुशासनं दृश्यते। अपि च अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी इत्युद्धृत्य **'अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्'**[4] इत्याह आश्वलायनः।

वेदार्थसङ्ग्रहे[5] भगवता रामानुजेन 'अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी, ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इत्यादीन् वेदमन्त्रान् उद्धृत्य 'इत्यादिश्रुतिशतनिश्चितोऽयं अर्थः' इति निगमनेन श्रीतत्त्वस्य अर्थात् शक्तितत्त्वस्य महत्त्वं प्रतिपाद्यते।

---

1. तै.सं.सा.भा. 4.4.12
2. वै.गृ.सू.ता.चि. 111. 9-14
3. आ.श्रौ.सू. 7.1
4. आ.श्रौ.सू. 7.2
5. वे.सं.1.127

श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यतात्पर्यचन्द्रिकायां निगमान्तदेशिकः विस्तरेण इदं श्रीतत्त्वं निरूपयति। तद्यथा–

पूर्वं स्वरूपनिरूपकतया सामान्यतः अभिहितां श्रियं विभूतिमध्येऽपि स्थितां विशेषतः दर्शयन् तत्स्वरूपादिकमप्याह स्वाभिमतेति।।[1] इति।

स्वरूपनिरूपणप्रसङ्गे स्व–असाधारणधर्मविशिष्टं श्रियः दिव्यात्मस्वरूपम् इति व्याख्या दर्शिता। ततः रूपं दिव्यविग्रहः इति। रूपानन्तरः गुणशब्दः तद्गतनिरतिशय–औज्वल्यसौन्दर्यादिपरः, विभवशब्दः परिजनपरिबर्हादिपरः इति शक्तितत्त्वं व्याख्यातम्। किञ्च परत्वसौलभ्य–औपयिकगुणवर्गद्वयम् ऐश्वर्यशीलशब्दाभ्यां दर्शितम्। ततश्च मूलगतः आदिशब्दः ज्ञानशक्त्यादिकं वात्सल्यादिकञ्च परिभाषते। अत्र प्रश्नः उदियात् ऐश्वर्यशीलादेः गणत्वं कथम् उचितमिति। समाहितञ्च निगमान्तार्यैः–**अनवधिकातिशयत्वस्यापि गणविशेषणत्वे प्रत्येकं गणानाम् उत्कर्षस्य अशाब्दत्वात् गुणविशेषणतया एव समासः इति द्रष्टव्यः।** इति। अपि च स्वरूपादिपञ्चकं भगवदभिमतानुरूपं नित्यं निरवद्यं लक्ष्म्याः इति च विशेषः। अथ च लक्ष्म्याः स्वरूपस्य नित्यत्वमपि 'निर्विकारतया सर्वकालवर्तमानत्वात्' इति हेतुना समर्थितम्। किञ्च लक्ष्म्याः रूपस्य नित्यत्वम् अवतारादिदशायामपि परमपदनिलयभगवदेकासनस्थितस्य तादृशी अवस्था अत्र प्रमाणं भवति। पुनश्च लक्ष्म्याः अनुरूपत्वगुणः–

अस्या देव्या यथारूपम् अङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम्।
रामस्य च यथारूपं तस्येयम् असितेक्षणा।।[2]

इत्यादिमहाकविवाक्यैः प्रमाणितम्। तथा चोक्तं विष्णुपुराणे–

विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनूम्।।[3]

विभवस्य अनुरूपता–

देवतिर्यङ्मनुष्येषु पुन्नामा भगवान् हरिः।
स्त्री नाम्नी लक्ष्मीः मैत्रेय नानयोर्विद्यते परम्।।[4]

इत्यादिभिः प्रमाणैः साध्यते। अत्र नानयोर्विद्यते परम् इत्यनेन श्रीतत्त्वस्य विष्णुसमानता प्रतिपादिता। अत्र अनवधिकातिशयत्वम् इत्यनेन द्वैराज्यादिदोषः न शङ्कनीयः, यतः– ईश्वरव्यतिरिक्तस्य अशेषगोचरस्य लक्ष्म्याः ऐश्वर्यस्य ईश्वराभिमतत्वात्। तथा

---

1. भ.गी.ता.चन्द्रिका. 1.10
2. वा. रा. सु.काण्डम् 15.51
3. वि.पु. 1.9.145
4. वि.पु.1.8.35

अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी इति विष्णुपत्नीत्ववेषेण सर्वस्य जगतः इयम् ईष्टे इति तात्पर्यम्।

इत्थं श्रियः अर्थात् शक्तितत्त्वस्य पृथक् नित्यगुणविभवस्व–ऐश्वर्यशीलादिप्रतिपादनेन तस्याः महत्त्वं दर्शितम्। तथा च शक्तित्ववादः पत्नीत्वेन कार्योपयुक्तविशेषणत्वाभिप्रायः। तथा च उक्तम् अहिर्बुध्न्यसंहितायाम्–

व्यापकौ अतिसंश्लेशात् एकतत्त्वमिवोदितौ[1] इति।

तदुक्तं श्रीराममिश्रैः षडर्थसङ्क्षेपे 'उभयाधिष्ठानं चैकं शेषित्वम्' इति। तथा च श्रीवल्लभा अर्थात् श्रीः वल्लभा यस्य शक्तितत्त्वम् अर्थात् श्रीतत्त्वं विशिष्टाद्वैते प्राधान्येन प्रतिपाद्यते इति शम्।

✦✦✦

---

1. अहि. 4.78

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (140-145) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

वेदेषु मानवाधिकारविचारः

डॉ. दीनदयाल वेदालंकार

सहायकाचार्यः, वेदविभागः

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्

साम्प्रतिके युगे मानवाधिकारविषये सर्वाधिका चर्चा श्रूयते। संयुक्तराष्ट्रसंघेन प्रदत्तेषु प्रस्तावेषु मानवाधिकारस्य प्रस्तावः प्रमुखोऽस्ति। प्रस्तावममुमनुसृत्य प्रायशः सर्वेषु देशसंविधानेषु मानवाधिकारनियमाः प्रस्थापिता अभुवन्। तथापि दिनमनुदिनं मानवाधिकाराणां हननं समाजे वृद्धिं यातीति लक्ष्यते। भारतदेशेऽपि १९९३ तमे खिष्टाब्दे अक्टूबरमासे राष्ट्रियं मानवाधिकारायोगं गठितम्। अस्यायोगस्य प्रमुखं लक्ष्यमुद्देश्यं वर्तते- मानवाधिकाराणां संरक्षणम्। सर्वप्रथमं प्रश्नोऽयं समुपतिष्ठति- 'को नाम मानवाधिकारः? विवेचिते सति समादधति विद्वांसः। अत्र द्वौ शब्दौ स्तः - मानव+अधिकारः। अधिकारो हि नाम सामाजिकजीवनस्य अनिवार्यतत्वम्। यं विना मानवस्य व्यक्तित्वविकासो न सम्पद्यते, नापि समाजोत्कर्षो भवति स मानवाधिकारः। मानवस्य समाजस्य च विकासाय यान्यनिवार्यतत्वानि भवन्ति तानि मानवाधिकारनाम्नाऽस्माभिः सम्बोध्यन्ते व्यवह्रियन्ते च। अधिकारैः विना मानवजीवनस्यास्तित्वकल्पनाऽपि नैव कर्तुं शक्यते। राष्ट्रमाध्यमेन व्यक्तित्वस्य पूर्णविकासाय प्रदत्ताः सुविधाः मानवाधिकारपदवाच्याः भवन्ति। आहोस्वित् मानवानां सुस्थित्यै येषामधिकाराणां व्यवस्था देशेन विधीयते तन्नाम मानवाधिकारः। मानवाधिकारैः मानवस्य भावात्मकपक्षो दृढीभवति।

मानवाधिकारविषये संस्कृतसाहित्ये बहुशश्चिन्तनं वरीवर्ति। अधिकाराणां कर्तव्यानां चान्योन्यसम्बन्धो वर्तते अतो विशेषेण वेदेषु मानवाधिकारविषये मानवकर्तव्यविषये च प्रतिपादनमवलोक्यते। एते अधिकाराः धार्मिक-सामाजिक-राष्ट्रिय-आर्थिक-शैक्षणिक-नैतिक प्रकारैः बहुविधाः भवन्ति। एतेषु नारीणामधिकाराणां विश्वबन्धुत्वादिबहुविधविषयाणामपि समावेशो भवति। वेदाः दिव्यवाचस्सन्ति। वेदानां विचाराः सार्वभौमिकाः, सार्वकालिकाः सार्वत्रिकाश्च सन्ति। न कस्यापि व्यक्तिविशिष्टस्य जातिविशिष्टस्य देशविशिष्टस्य वाऽत्र निर्देशोऽस्त्यतो मानवाधिकारविषये वेदानां विचाराः महत्वपूर्णाः सिद्ध्यन्ति। वेदानामनुशीलनेन वयं समाजे सुखेन जीवितुमर्हामः। वेदेषु यान्यधिकारकर्तव्यानि निर्दिष्टानि विद्यन्ते तेषामत्र स्वाध्यायशोधपत्रे प्रतिपादनं विधीयते।

१. धार्मिकाधिकाराः

वेदेषु धार्मिकाधिकाराणां विषये बहुत्रोल्लेखः प्राप्यते। 'धारणाद्धर्म इत्याहुः' इति व्युत्पत्या धार्मिकविषयोऽतिविस्तृतो भवति तथापि संक्षेपेण केचन धर्मविषयाः निरूप्यन्ते। तत्र सर्वप्रथमं वेदानामध्ययने सर्ववर्णानामधिकारो वर्तते इति निर्दिष्टम्। यथाऽऽधुनिके युगे शिक्षाया अधिकारस्सर्वेभ्यः प्रदीयते तथैव पुरा वैदिकयुगे सर्वेऽपि वेदमध्येतुं प्रभवन्ति स्म। यथोदितमस्मिन्मन्त्रे –

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय चारणाय च॥[1]

अपि च यजुर्वेदे एकत्र सर्वेषां वर्णानां कल्याणाय अभ्युदयाय श्रीवृद्ध्यै च मङ्गलप्रार्थना विहिता न तत्र कोऽपि भेदभावो लक्ष्यते। यथा –

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥[2]

समाजकल्याणाय शान्तेः अहिंसायाश्च नितरामावश्यकता भवति। प्रायशः सर्वेषु वेदेषु अभयस्य शान्तेश्च प्रार्थना दरीदृश्यते। यथा –

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥[3]

यथा समाजे पुरुषेभ्यः सर्वेऽप्यधिकाराः प्रदीयन्ते तथैव वेदेषु नारीभ्यः सर्वेषामधिकाराणां प्रदानस्य निर्देशो वर्तते।स्त्रियो धार्मिकानुष्ठानानामाचरणे अधिकारिण्य आसन्। तासां यज्ञे सहभागिता नूनमासीत्। महर्षिः पाणिनिस्तु **'पत्युर्न यज्ञसंयोगे'**[4] इति सूत्रमाध्यमेन यज्ञसंयोगादेव पत्नीशब्दं व्याचष्टे। ऋग्वेदे अथर्ववेदे च एकोनत्रिंशत् (२९) ऋषिकाणामुल्लेखो वर्तते याः मन्त्रं ददर्शुः। ऋग्वेदे ब्रह्मात्वेन स्त्रियोऽधिकारो दर्शितः – **स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।**[5] वेदस्तु **'पत्नी त्वमसि धर्मेणाहं गृहपतिस्तव'**[6] इति वाक्येन स्त्रीणां धर्माधिकारित्वं समुद्घोषयति। यमस्मृतौ हारीतस्मृतौ च स्त्रियः यज्ञोपवीतसंस्कारः, मौञ्जीबन्धनम्, वेदाध्यापनम्, सावित्रीवाचनं च निर्दिष्टम्।

पुराकाले तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥[7]

---

1. यजु. २६.२
2. तदेव १८.४८
3. यजु. ३६.२२
4. अष्टाध्यायी– ४.१.३३
5. ऋक्. ८.३३.१९
6. अथर्व. १४.१.५१
7. यमस्मृतिः – २८

द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्यो वध्वश्च।
तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं च।।[1]

इत्थं वेदेषु मानवानां धार्मिकाधिकाराणां निर्देशो विद्यते।

२. राष्ट्रियाधिकाराः

ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले अशीतितमे सूक्ते **'अर्चन्ननु स्वराज्यम्'** इति पौनःपुन्येन पदं प्रयुक्तम् यत्र स्वाधीनत्वं स्वराज्यत्वमभिकाङ्क्षितम्।[2] तत्रैव स्वराज्यं हर्तुं देवानामप्यधिकारो नास्ति इत्यभिहितम्। यथा –

न मिनन्ति स्वराज्यम्। न देवो नाध्रिगुर्जनः।।[3]

राष्ट्रं यदा स्वतन्त्रं भवति तदैव समाजस्य जातेः मानवानां च विकासो जायते।[4] स्वराज्यं तदैव प्राप्यते यदा राष्ट्रस्य जनाः जागृताः भवन्ति। सामवेदस्तु जागृतस्य जनस्य सर्वेऽपि सहायाः भवन्तीति सडिण्डिमं समुद्घोषयति।

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।।[5]

यदा जनाः सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः भवन्ति तदा निश्चप्रचं राष्ट्रं विकासपथ्यग्रेगामि भवति। स्वतन्त्रतासमं नास्ति किमपि सुखमिति वेदो नदति।

यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यम् इयाय।
तस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्।।[6]

स्वराज्यप्राप्त्यैव राष्ट्रं सुसमृद्धं भवति।[7] प्रजाः एव राजानं चिन्वन्ति स्म तस्मिन्काले।[15] इदं राष्ट्रमस्माकं मातृभूमिर्वर्तते, मातरमिमां रक्षितुं बलिहृतैर्भाव्यमिति वेदाः आदिदिशुः –

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।।[8]

---

1. हारीतस्मृतिः – १६
2. ऋग्वेदः – १.८०
3. तदेव . ८.९३.११
4. स्वराजस्य राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त।। यजु. १०.४
5. साम. उत्तरा. ९.२.५.१
6. अथर्व. १०.७.३१
7. साम. १००६
8. त्वां विशो वृणतां राज्याय।। अथर्व. ३.४.२
9. अथर्व. १२.१.१२

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः॥[1]

वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम॥[2]

सामाजिकाधाराः

मानवाधिकारसन्दर्भे सामाजिकदृष्ट्या सर्वाधिका समस्याः दृश्यन्ते। तत्र जाति-भेदः, वर्ण-भेदः, वर्ग-भेदः, धन-भेदः इत्यादीनि बहूनि कारणानि विद्यन्ते। सामाजिकोन्नत्यै वेदेषु बहवो विचाराः प्राप्यन्ते। सामाजिकसमरसता तदैव शक्या यदा समाजे उच्च-नीचभेदो विनश्यति अपि च मिथः बन्धुत्वभावना जागर्ति।

अज्येष्ठास अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय॥[3]

ऋग्वेदस्यान्तिमं सूक्तं सांमनस्यसूक्तं सामाजिकदृष्ट्या परिपूर्णं प्रतिभाति। **'सं गच्छध्वं संवदध्वं.........', 'समानी व आकूतिः.......', 'समानो मन्त्रः.......', 'सं समिद्युवसे......'** एते चत्वारो मन्त्राः सामाजिकैकतायै नूनमाचरणीयाः भवन्ति।[4] मनुष्याणां कर्माणि, वचांसि, विचाराः, मनांसि, हृदयानि समानानि स्युः, समाजस्य विकासाय समभावोऽयं महदावश्यको भवति। **'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः'**[5] इति वेदवचनमत्र विशेषं स्थानं धत्ते। मनुष्यः मनुष्यस्य कल्याणाय सदैव तत्परो भवेत्। समाजः यत्र सुसङ्गठितो भवति सः सदा विकासपथ्यग्रेसरो भवति। पृथिवी तस्मै सर्वविधं सम्पत् प्रददाति।[6]

वेदे समाजे समेषां कृते सग्धेः सपीतेश्च व्यवस्थापनं प्रदर्शितम्।[7]

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः।[8]

समाजे स्थितेभ्यः सर्वेभ्यो जनेभ्यो भोजन-पानस्य व्यवस्था स्यात् तादृशी व्यवस्था क्रियते चेत् समाजे परस्परं विद्वेष-कलह-चौर्यादिकर्माणि न जायन्ते। निर्बलानां निर्धनानाञ्च पार्श्वतोऽनुचितं करं न ग्रहणीयमित्यथर्ववेदे गदितम् -

यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे।[9]

---

1. यजु. ९.२३
2. अथर्व. १२.१.६२
3. ऋक्. ५.६०.५
4. ऋक्. १०.१९१.१-४
5. तदेव - ६.७५.१८
6. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
   सहस्त्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ अथर्व. १२.१.४५
7. सग्धिश्च मे सपीतिश्च ....। यजु. १८.९
8. अथर्व. ३.३०.६
9. तदेव - ३.२९.३

परस्परं मित्रस्य भावनया सौहार्दपूर्णं व्यवहारो विधेयो येन समाजे न कुत्रापि अनाचार–अत्याचार–आतङ्कवाद–युद्धादीनि प्रसृतानि भविष्यन्ति।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।[1]

सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभि हर्यत जातं वत्समिवाघ्न्या।।[2]

आर्थिकाधाराः

मानवः सुखाभिवृद्ध्यै धनार्जनं वाञ्छति। वेदभगवतः समीपे भक्ताः रयीणां पतयो भवितुं प्रार्थयन्ते।[3] धनप्राप्त्यै वेदे योगक्षेमशब्दः प्रयुक्तो दृश्यते। यथा –

योगक्षेमो नः कल्पताम्।[4]

धनोपार्जनं सुपथा एव स्यादिति तत्र निर्दिष्टं यत अनुचितरूपेणार्जितं वित्तमिहलोके परलोके उभयत्र कष्टतरं फलं ददाति।[5] अर्थव्यवस्थायाः प्रमुखसिद्धान्तो वर्तते– आयात–निर्यातः। यानि वस्तून्यस्माकं समीपे प्रचुरमात्रायां सन्ति तेषां निकासः यानि च न सन्ति तेषामायातो भवेत्। वेदे सरलभाषया सहजभावेनेतत् व्यक्तमृषिणा –

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते।।[6]

अर्थव्यवस्थायाः सुदृढीकरणाय सामुद्रिकव्यापारोऽपि विधेय इति वेदवचनम्।[7] वेदे न केवलं स्वदेशे अपितु विदेशे गत्वाऽपि धनोपार्जनस्योल्लेखो वर्तते।[8]

निर्धनानां धनिकैः सहायता करणीया अपि च परस्परं वितरणं कृत्वा धनोपभोगः करणीय इत्यपि कथितम्।[9] **'शतहस्त समाहार सहस्त्रहस्त संकिर'** इति वचसा आलङ्कारिकशैल्या धनोपार्जनाय वेद आदिशति सकलान् जनान्। व्यापारकर्मणि साफल्याय

---

1. यजु. ३६.१८
2. अथर्व. ३.३०.१
3. वयं स्याम पतयो रयीणाम्। यजु. १०.२०
4. यजु. २२.२२
5. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
   युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।। –यजु. ४०.१२
6. यजु. ३.५०
7. समुद्रस्य चिद्धनयन्त पारे। ऋक्.– १.१६७.२
8. समुद्रे न श्रवस्यवः। ऋक्.–१.४८.३
9. पृणीयादिन् नाधमानाय तव्यान्। ऋक्.–१०.११७.४

गुणद्वयमपेक्षते - १. चरितम् २. उत्थितम्। चरितमर्थात् चरित्रशुद्धिः व्यवहारकुशलता तथा उत्थितमर्थात् सततपरिश्रमः उत्साहश्च।[1]

यथा आकाशवेला वृक्षं नाशयति तथा भ्रष्टाचारप्राप्तं धनं मनुष्यं नाशयति। अत एवोचितमार्गेण शुभलक्ष्मीं प्राप्नुवन्तु तथा भ्रष्टसाधनैः प्राप्तामशुभां लक्ष्मीं परिहरन्त्विति वेदभगवानादिदेश।

मा मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाऽभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धाः॥[2]

इत्थं वेदेषु मानवाधिकारविषये बहुशो वर्णनमुपलभ्यते। मनुष्येण शुभभावनया सुमनसा सुमत्या चैतेषामधिकाराणां कर्तव्यानां निर्वाह उपभोगो वा विधीयते चेत् तस्य मानवस्य, परिवारस्य, समाजस्य, राष्ट्रस्य वा कल्याणं जायते। अत्रेदं सर्वथाऽवधेयमधि-काराणामेतेषां यदि दुरुपयोगो क्रियते चेत् तेन सर्वेषां हानिर्जायते। अत एव मानवाधिकारसन्दर्भे वेदवचसामनुकरणं नितरामपेक्षते। वेदेषु निर्दिष्टानां मानवाधिकाराणां कर्तव्यानां चोपयोगेन नूनं निम्ने शान्तिमन्त्रे प्रार्थिता प्रार्थना सफलीभविष्यति।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥

✦✦✦

---

1. शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च। अथर्व.- ३.१५.४
2. अथर्व. ७.११५.२

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (146-154) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

Environmental Awareness - A Vedic Perception

-Dr. K. Varalakshmi
Deputy Director, Sanskrit Academy
Osmania University, Hyderabad-500 007

Key words : Abiotic elements, biotic elements, cleansing agent, water bodies, gross elements.

Abstract : Vedic injunctions instruct human beings to propitiate natural forces. Vedic seers were environmentalists since they worshipped natural forces. Divinity is attributed to natural forces in vedic hymns. Agnisuktam, Prithvisuktam, Madhusuktam, Goshtasuktam, Oshadhisuktam, Bhusuktam, pavamanasukta, Udakasantihymns and many such hymns eulogize five gross elements and other environmental entities which are evidences of environmental awareness in our ancient Indian literature and culture. This article makes an attempt to shed light on the aspects of environmental awareness in vedic literature.

Introduction : Vedas are stated to be the repository of knowledge. Vedic hymns embody the regulations and the laws of the universe. Vedic hymns extol the virtues of natural forces. The vedic injunctions instruct the inter relationship between the biotic and the abiotic elements. Our vedic seers, who are environmentalists, worshipped all the natural forces like the fire, the sun, the moon, the wind, the earth etc. The first word of the Rigveda itself is Agni. Agnihotra is nothing but adoring the natural forces and establishing relationship with the environment.

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।[1]

-R.V. 1.1.1

I adore the Agni, the Purohita, the divine Ritvik of the sacrifice, the priest, the greatest bestower of the treasures.

1. Rigveda.1.1.1

The survival and development of biotic elements is vividly praised in the vedic hymns. It is the duty of human beings to protect this environment. Environmental awareness helps one to practice dos and don'ts while living on this planet. Vedic hymns bring such environmental awareness among the human beings.

A biotic elements : Annambhatta, the author of Tarkasamgraha mentioned nine elements among which five basic elements exist in the universe are the components of the environment. They are earth, water, light, air and ether.

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।[1]

Tattiriya Upanisad states five gross elements. इमानि पञ्चमहाभूतानि पृथिवी वायुः आकाश आप ज्योतींषि।[2]

These are evidences to proclaim that our ancestors possessed environmental awareness.

1. The Earth . Prithvisuktam pays respects to the earth and shows regards as mother and our benefactress.

यत् ते मध्यं पृथिवी यत् च नभ्यं याः ते ऊर्जः तन्वः सम्बभूवुः।
तासु नः धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रोहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥[3]

Thirteen persons are regarded as mother by our holy scriptures.

षोडशप्रकारा मातरो यथा स्तनदात्री गर्भधात्री भक्षदात्री गुरुप्रिया।
अभीष्टदेवपत्नी च पितुः पत्नी च कन्यका॥
सगर्भजा या भगिनी पुत्रपत्नी प्रियाप्रसूः।
मातुर्माता पितुर्माता सोदरस्य प्रिया तथा॥
मातुः पितुश्च भगिनी मातुलानी तथैव च।
जनानां वेदविहिता मातरः षोडश स्मृताः॥[4]

As per our ancient scriptures one who nurtures and one who sustains, one who gives birth are considered to be mothers. The earth sustains all living and non living beings and nurtures them by its agricultural produce. Hence vedic hymns rightly glorify the earth as our mother and all living beings

---

1. Tarkasamgraha
2. Itareyopanishat 3.3
3. Atharvaveda – 12.1.12
4. Brahmavivartapurana, Ganapatikhandah, Kaartikeyasamvada, chapter 15

as her children. The vedic literature preaches to enjoy the life by utilizing these natural resources by showing veneration towards them and with a sense of gratitude. Hence the vedic injunctions instruct the humans to worship these natural forces as divine powers or divine forms of the supreme being.

All human activities begin with worship of these natural forces. Daily prayers praise the sun, the moon, the wind, water, the earth and the universe.

सत्यं बृहत् ऋतम् उग्रं दीक्षा तपः ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥[1]

Truth, righteousness, devotion, perseverance, determination, sacrifice, these are the virtues that sustain the earth. This earth bears plants and trees of medicinal value to fulfill the needs of the living beings.

असंबाधं बध्यतः मानवानां यस्याः उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्याः ओषधीः या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतो नः॥[2]

All living beings are nurtured by the mother earth by its agricultural produce. It is a great treasure. It sustains water bodies too.

यस्याः समुद्रः उत सिन्धुः आपः यस्याम् अन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः।
यस्यां इदं जिन्वति प्राणत् एजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥[3]

Human activities like agricultural operations or construction of houses etc., have to be accomplished only after offering prayers to the presiding deities of these natural forces.

सुसस्याः कृषीस्कृधि।[4]

Obtain good and abundant produce from your land by using good quality of seeds.

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।[5]

Oh holy land, kindly grant prosperity to us. We offer salutations to you.

कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे।[6]

May we obtain enough agricultural produce and timely rain fall.

---

1. Atharvaveda 12.1.1
2. Atharvaveda 12.1.2
3. Atharvaveda 12.1.3
4. Yajurveda 4.10
5. Rigveda 4.57.6
6. Yajurveda 18.9

वीरुधश्च मे ओषधयश्च मे।[1]

May we have abundant vegetation and plantation.

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उपजीवन्ति।[2]

Human beings are depended on agriculture and are nurtured by agricultural produce.

The earth and its components are mentioned in the vedic hymns and homage is paid to the mother earth.

शिला भूमिः अश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्यै अकरं नमः।।[3]

Rocks, stones and dust are the components of the eart. All these are held together. On outer surface of the earth possesses these components. In the internal surface she holds mines of gold. So salutations to the wonderful earth.

The Water : Water is essential for all the activities. It is regarded as elixir for life.

अप्स्वन्तरं अमृतम्। अप्सु भेषजम्।[4]

Both biotic and a biotic components are depended upon water. It is the main source of agricultural operations on which human beings also depend for their livelihood.

Upanisadic texts rightly proclaim the importance of the water in the universe.

आपो वाव अन्नाद भूयस्यः तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणाः अन्नो कनीयो भविष्यतीति। अथ यदा सुवृष्टिः भवति आनन्दिनः प्राणा ह भवत्यन्नं बहु भविष्यतीति। आप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशव वयांसि च तृण वनस्पतयः श्वापदान्या कीटपतङ्गपिपीलकम्। आप एवेमा मूर्ताः।[5]

If there is sufficient rain agricultural produce can be obtained abundantly. Scarcity of water leads to scarcity of food grains. The water is the source of joy and prosperity of life. Functions of all living beings such as vegetation and plantation worms and insects, birds and animals and human

---

1. Yajurveda 18.14
2. Atharvaveda 8.10.24
3. Atharvaveda 12.1.26
4. Yajurveda 9.6, Rigveda 23.19
5. Chhandogyopanishad

beings take place only in the presence of water. Our ancient vedic seers showed respect to the water as vital element for life. All our holy scriptures stress upon the purity of water. Since water is cleansing agent of living beings, it is the duty of the human beings to keep water clean. Polluting the water bodies is considered to be a grave sin.

नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यात् न निष्ठीवेत्,
न विवसनः स्नायात् गुह्यो वा यशोग्निः।[1]

माऽपो हिंसीः।[2]

सं सं स्रवन्तु नद्यः।[3] Let the rivers flow together. A.V. 19.1.1

Atharvaveda glorifies the attributes of water.

शं त आपो हैमवतीः। शमु ते सन्तु उत्स्याः।
शं ते सनिष्यदा आपः। शमु ते सन्तु वर्ष्याः।

शं त आपो धन्वन्याः। शं ते सन्त्वनूप्याः।
शं ते खनित्रिमा आपः। शं याः कुम्भेभिराभृताः।

This hymn mentions various resources of water. Snowy mountains, rainfall, fountains, flowing rivers, wells, canals, oasis in deserts etc. are the resources of the water.

अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः।
भिषग्भ्यो भिषत्तरा आपो अच्छा वदामसि।

अपामह दिव्यानाम् अपां स्रोतस्यानाम्।
अपामह प्रणेजनि अश्वा भवथ वाजिनः।[4]

It has healing power. It provides vigor, bliss and heal yakshma disease. Water is considered has divine being. It is a purifier. So the hymn preaches us to keep the water clean .

Peace to the waters from the snowy mountains, fountains, rushing waters, rain fall, oasis in deserts, marshes, canals and vessels.

Waters are more healing than healers. Waters have divine powers. It is a vital force in life. provides vigor like the horse. Waters which are kept clean have healing power.

---

1. Tittiriya aranyaka 1.26.5.7
2. Yajurveda 6.22
3. AtharvaVeda 19.1.1
4. AtharvaVeda 19.2.1&5

Vedic injunctions strictly prohibit water pollution. Manusmriti, Arthasastra and other Sanskrit texts elaborately discuss the importance of the water. Misuse of water is treated as sin. Polluting water is like incurring sin according to our ancient scriptures.

The fire : God of Agni is seen physically as a blazing fire. It is found psychologically in the body as the vital force. It is regarded as supreme soul in spiritual way. The fire protects us like a father and bestows prosperity. The blazing fire is useful in life. Without fire many human activities cannot be accomplished. As the vital force in the body, the fire helps in many bodily functions like digestion. The fire is connected even in spiritual activities like sacrifices. He is regarded as oblation devourer and the purifier. It is very important since it carries the sacrificial offerings of humans to the Gods. The sacrificial fire which reduces the offerings to ashes, causes so many benefits to the mankind. The fumigation, which takes place during the propitiation of the fire god, purifies the air and eliminates air pollution. Fumes of various herbs contain medicinal value and cure many diseases. Vedic hymn rightly glorifies the god of fire as father and benefactor.

स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।[1]

Oh Agni, Just as father is a benefactor and protector of his son, similarly be as a father and protector and benefactor for us.

The fire exists in water, forests, plants, animals, humans. It helps in nourishment of human beings.

दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षाद् वनस्पतिभ्यो अध्योषधीभ्यः।
यत्र यत्र बिभृतो जातवेदाः तत स्तुतो जुषमाणो न एहि।
यस्ते अप्सु महिमा यो वनेषु य ओषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः।
अग्ने सर्वास्तन्वः सं रभस्व ताभिर्न एहि द्रविणोदा अजस्रः।
यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथे अग्ने तया रयिमस्मासु धेहि।[2]

O Jataveda, (Agni) from wherever you are supported in the heaven, in the earth, in the mid world in the trees and the plants come to us. Your greatness is inside the waters inside the gardens, in the plants and in the cows.

O Agni, with all your forms together in rapid movement come to us, unfailing, O giver of riches.

---

1. Rigveda 1.1.9
2. Atharvaveda 19.3.1-3

O Agni, you have spread nourishment among human beings.

Tarkasamgraha too states the four kinds of Tejas. Produced in the earth, it is called as fire. Produced in the sky, it is called lightning. Produced in the stomach is the cause of the digestion of things eaten. Produced in mines it is gold.

उष्णस्पर्शवत्तेजः।। पुनस्त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात्।। विषयश्चतुर्विधः। भौमद्वियौदर्या-करजभेदात्। भौमं वन्ह्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरौदार्यम्। आकरजं सुवर्णादि।[1]

Fire plays vital role in the eradication of pollution in the environment. During the vedic age itself sacrificial fire is used to mitigate the impact of air pollution. The offerings, possessing medicinal value, are reduced to ashes in the sacrificial fire kill disease causing germs. Fumigation plays important role in the flora. Fumes emanated during the sacrifices help to increase the yield of trees since fumigation is said to be a part of Dohada or longing of the trees. Hence nityagnihotras are a part of the life in ancient India.

The air: vedic hymns praise the importance of air in the environment. They play vital role in causing rain.

मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु।
आशामाशा वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः।[2]

May the clouds driven by Maruts pour rain all over the earth. Let all the directions be illumined. Let the wind blow in all regions.

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यौ आत्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुः तौ नो मुञ्चतमंहसः।

The wind is protector of the world. It frees us from sin and sorrow. The pure air refreshes the body and mind. Hence the vedic hymns sing the glory of the wind that it mitigates diseases and bestows riches. When persons breath in fresh air naturally he will be healthy. A healthy person is always industrious. An industrious person plays key role in the upliftment of the nation. Otherwise polluted air causes diseases especially lung problems and other ailments. Air also causes skin diseases since air carries harmful dust particles. Hence fresh air is very important for our life. Atharva veda hymns clearly state that the wind god relieves us from Yakshma, a skin disease.

---

1. Tarkasamgraha
2. Atharva Veda 4.15.7&9

'युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथः अपेतो वायो सविता च दुष्कृतम्। सं ह्यूर्जया सृजथः सं बलेन रयिं मे पोषं अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तम्।[1]

Trees : The air pollution can be eradicated by trees which are praised as the lungs of the earth. Many vedic hymns sing the glory of the trees. Vedic seers recommended the worship of various trees possessing medicinal values. So many vedic hymns are devoted to herbs extolling their virtues of dispelling the sufferings of diseases caused by soil pollution, water pollution and air pollution. Ajashringi, Gulgulu, Pila, Naladi, Aukshagandhi, pramandani, banyan tree etc., are mentioned in the prayers.

त्वया वयम् अप्सरसो गन्धर्वान् च शातयामहे अजशृङ्गि अज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय नदीं यन्तु अप्सरसो अपां तारम् अवश्वसम्। गुल्गुलूः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी तत् परेत अप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन Ajashringi herb, by you we expel the worms in water. By your smell, you make all the disease causing worms to disappear. Let the noisy worms float away in water, know well about the powerful herbs. Gulgulu, pila, naladi, Aukshagandhi and Pramandani, Hence o worms go away from here.

'यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ओषधीनां वीरुधां वीर्यवती अजशृङ्गि अराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु'[2]

Where there are Ashvatta, Nyagrodha, great trees with crests O worms, go away. Among the herbs and bushes of great power has come Ajashringi. Let the disease destroying tikshna shringi destroy the diseases.

Conclusion : The modern sciences treat natural forces as a biotic elements. Whereas Sanskrit literature places them in high regard and propitiate them as divine forms of supreme soul. Our scriptures imparted divinity to all the natural forces and instructed the human beings to show veneration and derive support from them. The scriptures glorify the agni as father whereas the earth as mother. This vedic perception of environmental awareness presented in vedic hymns has to be studied and practiced in our life. Misuse or over usage of the natural resources leads to the destruction of the environment which results in the disaster of the universe. Disorders in the nature can be corrected and disasters can be avoided if mankind follows the teachings of environmental awareness enunciated by the vedic literature. This research article is concluded with vedic hymn praying for the harmony among the biotic and a biotic elements of the universe.

---

1. Atharva Veda 4.25.1&5
2. Atharva Veda 4.37.2&6

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता मधुमानस्तु सूर्यः माध्वीर्नः सन्त्वौषधीः मधुमान्नो वनस्पतिर्दधातु माध्वीर्गावो भवन्तु नः।[1]

Bibliography:

1. Chaturveda Gangalahari, Dr. Satyavrata Siddantalankar, published by Vijayakrishna lakhanpal, New Delhi.
2. Rigveda Samhita, Volume I, Ved pratishtan, New Delhi.
3. Vedic Concept of Culture And Civilization, Pandit Ganga Prasad Upadhyaya, Arya Pratinidhi Sabha, A.P. Telangana, Hyderabad.
4. Socio&Economic Ideas in Ancient Indian Literature, A.R. Panchamukhi, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi.
5. Prof. Kuppuswamy sastri, (2008), The Tarkasamgraha of Annambhatta , Chowkamba Vidya bhavan.
6. Atharvaveda, R.L.Kashyap, published by Sri Aurobindo Kapali Sastry Insitute of Vedic Culture, Bangalore.

✦✦✦

1. Rigveda 1.91

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 13 (155-168) July-December 2019 ISSN 2277-4351
UGC Care List (Arts & Humanities) No. 287 RNI : UTTMUL 2012/53882

Causal Genesis & Celestial Beings

a study in Vedas Part - III

-Acharya Siddhartha A. Bhargava (Bangluru)
&
-Prof. Dinesh Chandra Shastri

Sankhya's - Guna Trinity *is the* **- Unified "Theory of Everything" :**

- **Sankhya's - Guna Trinity** - *of* **Sattva-Rajas-Tamas** which is the foundation of the - ***Grand Vaidic Trinity***, is hypothesised here to be capable of presenting a formidable - **Unified** "**Theory of Everything**", and simultaneously providing a comprehensive explanation for the - '**Planck Epoch**';with the potentiality to - '**Unite**' -**Relativistic Gravity** and **Quantum Mechanics**, and also - provide an alternative,or comprehensively compliment the hypothetical **String Theory**. These have strongly **eluded Modern Science** till now. The Tri-Guna Trinity can also harmoniously synchronise the apparently conflicting ideologies of **Creationism** and **Evolutionism**.
- **'Duality'*of* Sānkhya** *and* **'Non-duality'*of* Vedānta:**

Sānkhya accepts the **Duality** of: -

I. Prakriti

II. Purusha

- as the - **Two - Ultimate Realities**.

Vedānta *on the other hand*, accepts only a **Singularity**, or **Non-Duality***:* -

I. Parama Purusha

- as the - **Sole *or* Non-Dual - Ultimate Reality**.

Both - **Sānkhya** and **Vedānta** - undoubtedly are - **Āstika** philosophies: as both of them absolutely accept the **- Vedas as the ultimate Final Authority**.

But, due to their apparently conflicting views, the followers of Both these Philosophies have been in a perpetual state of conflict for - Centuries. Common sense and general logic stipulates that - atleast one of them is - Wrong, and only one of them may be - Right. And similarly, only one of them may represent the - ultimate 'Principle' of the Vedas, while the other - may fall short.

This Thesis intends to resolve this ostensible divergence and contradiction, by presenting a unique, but profoundexplanation, wherein - Both schools stand to be the - Ultimate 'Truth' - in their own capacities and domains; and Both represent the - Ultimate 'Reality'. Accordingly: -

1. Sānkhya's - Duality - *is the* ultimate Existential & Comprehendible - Reality.

2. Vedānta's - Singularity *or* Non-Duality - *is* ultimate Transcendental & Incomprehendible - "*Reality*".

Accordingly, in the - **Existential** & **Comprehendible** - plane, which is within the scope of Cognition; and hence, within the realm of - existential Philosophy, Science and Logical Literature: it is undoubtedly only the "**Sānkhya's - Duality**" that supremely prevails. The Existential & Comprehendible - realm is the domain of - **Sānkhya**: which is the **ultimate - Existential Philosophy**.

However, the - Transcendental - "*plane*", is beyond the scope of Cognition; and hence, is beyond the realm of - existential Philosophy, Science, Logical Literature, and Words; because it transcends both - Existence and Non-Existence, and so is beyond Mind, and so beyond Words too. As it is also beyond - Non-Existence, it can Not be termed as - False. Yet, Words can Not convey itin Direct or Assertive (अभिधात्मक or सकारात्मक) terms. Nevertheless, it can 'somewhat' be conveyed in - Non-Attributive or Non-Assertive (नकारात्मक) terms; Or even by Interrogative (Question-form, *i.e.* अर्थ-गर्भित-प्रश्नात्मक) terms; And additionally, even by Implied (लक्षणात्मक) or Suggestive (व्यञ्जनात्मक) terms - which is well within the scope of the - authentic and witness-based Scriptures. In such a **Transcendental&Incomprehendible** 'domain', It is "**Vedānta's - Singularity *or* Non-Duality**" that supremely prevails. The Transcendental & Incomprehendible - realm is the domain of - **Vedānta**: which is the **ultimate** - **Transcendental Philosophy**.

As a result of this classification, there is no longer a reason for any

fundamental clash or disagreement between - **Sānkhya** and **Vedānta**; Since, in the light of this explanation and clarification, both these philosophies can be seen to - complement each-other, and co-exist in absolute Harmony!

Master-Plan *of* - Vaidic Philosophy:

We can now appreciate the **Comprehensive Master-Architecture** and **Master-Plan** of the - **VAIDIC PHILOSOPHY** - in its totality, *viz.*:-

TRINITY *of* Sānkhya

Sattva, **Rajas**, **Tamas**: *i.e.* -

- Mind, **Energy**, **Matter**: *forms the -*

Manifest & Existentiality - Reality.

DUALITY *of* Sānkhya

Prakriti&**Purusha**: *i.e.* -

-Nature & Individual Conscious(s): *forms the -*

Unmanifest & Existentiality - Reality.

SINGULARITY *or* **NON-DUALITY *of* Vedānta**

Parāt-paratara **Brahma** *or* **Parama-Purusha**: *i.e.* -

- *supremecosmic* Universal Conscious: *forms the -*

Unmanifest & Transcendental - Reality.

This explanation has the potentiality to harmoniously facilitate a much closer collaboration within the various domains, schools and sub-schools of **Bhāratīya Philosophy**, across both the ***Āstika*** and ***Nāstika*** - domains; including:

- Āstika : Sānkhya & Yoga, Nyāya &Vaisheshika, Uttara & Pūrva - Mīmānsā.

- Nāstika : Buddhism, Jainism, Bārhaspatya (Lokāyata & Chārvaka);

Vaidic - Philosophy's - Unified Master-Plan

Manifest & Unmanifest - View

- along with -

Existential & Transcendental - View

Grand Vaidic Trinity - Pyramidical Tower Main - Structure

TRIVRIT ~ TRINITY

Manifest & **Existential**

Core- Structure

Dvaita ~ Duality

Unmanifest & **Existential**

Foundation

ADVAITA ~ NON-DUALITY

Transcendental

Existential

Realm

Transcendental

Realm

Swarga & Moksha :

Swarga and **Moksha** are two distinct notions, which deal with the superior two forms of 'Afterlife'; - that a Soul of 'Good' - Karma and Jnana - would 'reincarnate' into; or 'attain' respectively. Apavarga is another name for Moksha.

SWARGA *is* **-** **Heaven** or **Paradise**, *and*

APAVARGA *is* **-** **Liberation** or **Emancipation**.

Simplistically put, **Swarga** is basically - the Transmigration and Reincarnation of Souls - in such 'Lifeforms' - that are relatively Superior to Human Lifeforms; such as the **Pitara** and **Deva- Yonis**: -

1. Pitara - Planetary and **Sub-Stellar Beings** : Planemos & Brown Dwarfs. **Astral Beings**

2. Indra - **Stellar Beings** :

Stars, Stellar & Intermediate - Mass Black Holes

3. Prajāpati - Galactic Beings :

Super Massive Black Holes, Quasars, etc. **Celestial Beings**

4. Brahmā - **Cosmic Being** :

Cosmic Mind & Cosmic Creator.

Deva-Yoni - would also include the - विदेह–***Videha,*** and–प्रकृतिलीन–***Prakriti-līna*** Yonis, which are stipulated to be - higher but 'subtle' forms of Celestial Beings, who may possess only a Subtle-Body in the form of

Psychic-Sheath; but No Gross-Body like a Celestial Body. These are Celestial Beings without the - Gross Celestial Bodies.

The Swarga Lifeforms enjoy - a correspondingly high level of **Ananda** *i.e.* Happiness and Tranquillity; along with excessive **Longevity**, with life-spans lasting from a few Millions to many Billions of Years. *Generally speaking*, Transmigrating **Sattvik Souls**, with correspondingly higher proportion of **Sattva**: which is based on the amount of their **Punya**; may correspondingly reincarnate in these Divine Higher Lifeforms; which are hierarchically organisedas perthe ascending order of Sattva-predominance. By the time their **Punya** is exhausted (*on the merit of which they had reincarnated into these Lifeforms*); which generally corresponds with the lifespan of their presided Celestial Bodies; The presiding Soul will thereafter depart from its Celestial Lifeform Body, leaving behind a 'Dead' or 'Degenerate' Celestial Body; And such a Soul would further - Reincarnate back ina mid-level - 'Lifeform', which is usually the Human Lifeform.

The Path of - **कर्म**- Karma, which commonly includes **- इष्ट-** *i.e.* (Yajnik Fire) Rituals, and **आपूर्त** - *i.e.* Righteous, Charitable and Benevolent Deeds - are stated to be the means to achieve - Swarga. This is also known as - **पुण्य-कर्म** - Righteous Karma.

On the other hand, **Moksha** is the'Attainment' of '**Liberation** or **Emancipation**'. The **Vimuktas** are the - **Liberated Souls**, who have completely **Unshackled** themselvesfrom all forms of ***bondages*** whatsoever, including from the subtlest ***Sattva***-Guna; and have 'Attained' (*or disembarked into*) their **own pure state *of* Consciousness** - i.e. **पुरुष-स्वरूप-स्थिति** or **स्वरूप-प्रतिष्ठा** , which is the state of **-कैवल्य - *Kaivalya*** - i.e. **Absolute Solitude**.

Broadly speaking, such Liberated Souls - *who tentativelymay or may-not be* required to Reincarnate into these Higher Lifeforms; But *theoretically*would eventually - transcend beyond the all Existential realms:into the ultimate Transcendental 'realm'; Where they would become absolute One and Unified with the Transcendental Supreme Conscious. And since they NO longer are bound by any Gunas or Prakriti, including that of the subtlest - Mind-महत्, Ego–अहंकार. and Sattva -सत्त्व; Hence, they are *once-and-for-all* - also Liberated from the acquired existential limitations of 'Individuality'; And consequentiallythey become absolutely

One with the - Universal Conscious, which inactuality, is their own true transcendental state.They conclusively cease to anymore be an - 'Individual' Conscious. This is anabsolutely non-reversal process. Since, there is ***No Time and Space*** in the realm of the Transcendental Supreme Conscious, and there is also ***No Individuality*** remaining; Hence, there is ***No chance*** or question of any further - ***Reincarnation***.

The Path of - **ज्ञान -** Jnana - that includes the **-**उपासना**-** practice and observation of **-श्रद्धा-** Devotion, and **-सत्य-** Truth, in the solitude of -अरण्ये- Forest; is stated to be the means to attain- Moksha. This path is also described in terms of **-पर-वैराग्य-** ***Para Vairagya*** - 'Complete Disengagement or Dispassion'; which causes-**प्रतिप्रसव** - ***Prati-prasava*** - 'Reversal' of the -पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानाम्- 'uninitiated *Gunas*' - as per Yoga-Darshana. The Kathopanishad similarly claims **-योग-विधिः-** Practice of Yoga, and **-अध्यात्म-विद्या-** Spiritual Wisdom and Knowledge as the path to Moksha.

Hence, it can be generally summarised that: -

कर्म - Path of Righteous Actions; *is the -*

प्रवृत्ति-मार्ग - Path of Initiation; *which provokes -*

सकाम-कर्म- Actions with Desire; *that may be in the form of -*

यज्ञ-इष्ट-आपूर्त- Yajna; Rituals & Charity; *which leads to -*

पुण्य- Righteous Reward; *that is a -*

सगुण-फल- Attributive Achievement; *leading to -*

स्वर्ग- Heaven or Paradise; *which is -*

पुनः निवर्तन्ते- followed by Reincarnation!

ज्ञान- Path of Spiritual Knowledge; *is the -*

निवृत्ति-मार्ग- Path of Renunciation; *which ushers in -*

निष्काम-कर्म- Actions without Desire; *that may be in the form of -*

योग-श्रद्धा-सत्य- Yoga; Devotion& Truth; *which leads to -*

विवेक-वैराग्य- Discernment & Detachment; *that is a -*

निर्गुण-फल Non-Attributive Outcome; *leading to -*

मोक्ष- Liberation*; wherein, there is -*

न च पुनरावर्तते- No further Reincarnation!

Pitri-Yana & Deva-Yana:

The narrative of the dual paths of **Pitri-Yana** and **Deva-Yana**, is closely linked with the dual aspects of - **Swarga** and **Moksha**, respectively. It can be *broadly stated* that - **Pitri-yana** leads to - **Swarga**; and **Deva-yana** leads to - **Moksha**. While, both these narratives *largely* - correspondinglyand categorically amalgamate with each other, in *virtually* all aspects; However, there seems to be one critical 'additional-dimension' - which is added by the **Pitri-Yana** and **Deva-Yana** narrative.

Accordingly, the **Pitri-yana** narrative seems to articulate the view that - It is only the **Pitara**'Lifeforms' in which the - Adherers or Practitioners of the - **Karma-Marga** would reincarnate into. The **PITARAS** have been hypothesised in this thesis to be: -

1. A] **Planetary Beings** : **Planetary Mass Objects** - PMOs : - **Planemos**.

rounded - Moons, Asteroids, Centaurs;

Dwarf Planets; Rocky-, Icy-, & Gaseous - Planets;

Exo-Planets, Rouge Planets, & Sub-Brown Dwarfs.

B] **Sub-Stellar Beings** : **Sub-Stellar Mass Objects** - SSMOs: - **Brown Dwarfs**.

Correspondingly, the **Deva-yana** narrative appears to state that - It is in the **Deva**'Lifeforms' that the Adherers of - **Jnana-Marga** would first need to reincarnate into; before attaining **Moksha**. The **DEVAS** have been postulated in this thesis to be: -

2. Stellar Beings : **Stellar Mass Objects** - SMOs : - **Stars**.

Main-, Pre-Main-, & Post-Main- - Sequence Stars;

White-Dwarfs, Black Dwarfs, Neutron Stars;

Stellar-, Massive Stellar-, Intermediate- -Mass Black Holes;

3. Galactic Beings : **Galactic-Nuclei Mass Objects** - GNMOs: - **SMBH**s.

Super Massive Black Holes: SMBHs, AGNs, Quasars,

Ultra-, & Hyper- - SMBHs: - U-SMBHs& H-SMBHs.

4. Cosmic Being : **Primordial Realm**: *substratum of Cosmos: Cosmic Progenitor; Cosmic Creator; & Cosmic Mind.*

Accordingly, the **Pitri-yana** *&* **Deva-yana** narrative - appear to stipulate that: -

Asuccessful Adherer of **Karma-path**, would at the most be able to reincarnate into a - **Pitri-Yoni**, *i.e.* as a - **Planetary Being**or **Sub-StellarBeing**; And on completion of his life-span as a - Planemo, or Brown-Dwarf; He is further deemed to revert backto the ***Mortal*** world, and be born again as Human Being; to continue the continuous cycle of Birth and Death, and Reincarnation. This is the -"Gradually Ascending, followed by gradually Descending" - Path. This can be equated with the category of - **Swarga**. *However, on the contrary*: -

An successful Adherer of **Jnana-path**, would primarilyreincarnate into a - **Deva-Yoni**, *i.e.* as a - **Stellar Being**, or **Galactic Being**; And only after completing his life-span as a - Star or Super Massive Black Hole; That He, instead of reverting back to the Mortal World; wouldrather, be further conveyed to a higher realm, *i.e.* the realm of - Cosmic Being - **Brahm**; And from there onwards, he is ultimately conveyed to the - Transcendental Supreme Conscious - **Purusha**; meaning, thatat this stage, he is absolutely Liberated and has attained û **Moksha**. There is NO further Reincarnation after this. This can be equated with the category of - **Moksha**.

We can clearly observe that this - **Pitri-yana** *&* **Deva-yana** Duality - categorically corresponds with the - **Swarga***&***Moksha** - Duality respectively. However, the **Pitri-yana** *&* **Deva-yana** narrative - appears to add a new dimension; wherein it seems to specify that; among the righteous Souls: -

Only such Souls who have Reincarnated as - Planemos or Brown Dwarfs; are the ones who are unavoidably destined to Descend-back and û Reincarnate in the Mortal World;

While those who have Reincarnated as - Stars or Galactic Black Holes; are the ones who are (*inevitably*) destined to further Ascend: *Initially* to the - supreme existential realm of the Cosmic Being - **Brahm**; and *Eventually* to the - ultimate transcendental realm of - **Moksha**.

This 'Additional-Dimension' added by the **Pitri-yana** *&* **Deva-yana** Narrative, is completely compatible with the general dualistic paths of -

Swarga *&* **Moksha**. However, to seamlessly integrate the 'details' of the two forms of narratives; further synchronization is definitely required; especially in the context of this newly proposed interpretationof the **Pitri-yana** *&* **Deva-yana** Narrative.

Even though, the division between the - **Pitaras** and **Devas** - appear to be fixed. However, as both the **Pitaras**, and **Devas**consist of a wide variety of sub-classes, and sub-sub-classes, of Celestial Bodies. Therefore, based on the context and interpretation, there also exists a possibility, that some of the - Higher sub-classes of **Pitri-yana**, and the Lower- sub-classes of **Deva-yana** - may over-lap; or the border-line of classification separating the two - may shift; thereby engulfing some sub-classes, and excluding a few sub-classes: of Celestial Bodies. This, all requires further studies, in this Cosmic perspective.

Furthermore, another question may arise, regarding the topic of the **जीवन्मुक्त**- ***Jeevan-Muktas*** - *i.e.* the "Souls who have attained "Liberation"- while still residing within their Human Bodies". The question in this regard is:-

Are the -जीवन्मुक्त- ***Jeevan-Muktas*** - too subject to the same process of - **Deva-yana**, *i.e.* the'Ascending - Transmigration and Reincarnation - in the higher Celestial Lifeforms'; wherein they too have to first ascend and reincarnate in these various higher Celestial lifeforms - before they eventually attaining Moksha? *Or* -

Are the **-जीवन्मुक्त-** ***Jeevan-Muktas*** - an exception, wherein they may directly attain - Moksha; without Ascending the path of the Celestial Beings?

This needs to be further examined in the context of this **Pitri-yana***&***Deva-yana** Narrative. Nevertheless, in both circumstances,it can be seamlessly compatible with the notion of the Celestial Beings in the form of Celestial Bodies, as hypothesised by this thesis.

Cosmological Interpretation - *of the* - **Vaidic Devatās:**

Many of the Vaidic 'Natural' Deities, such as: Agni, Vayu, Aditya, Indra, Rudra, Soma, etc. have been interpreted in the Cosmogonic and Cosmological context. It is postulated by this Thesis that - the Cosmological Description of these Devatās - is largely the primary or chief Meaning; And the Spiritual (*meta-physical or psychic*) and Materialistic (*terrestrial, earthly, practical or mundane*) - 'Meanings' are secondary or tertiary in-

nature.

Even though theterms - "Deva" and "Devat" are generally - used interchangeable. Yet here, an important distinction has been categorically presented to distinguish (*differentiate*) between these two 'Terms': -

"**Devatā**" would specifically connote the **Non-Living** Cosmological - Energies, Forces, Phenomenon, or Substance.

These are **-शक्ति- Energies**, or **Energetic Materials**; ***Not*-योनि-** ***Lifeforms***.

"**Deva**" would specifically denote the **Living** Celestial Beings, which include the: Planetary Beings, Stellar Beings, Galactic Beings, and the Universal Being; which together have been referred to as - Cosmic Beings in this Thesis's Title.

These are **-योनि- Lifeforms**; ***Not*** -शक्ति- ***Energies****, or* ***Energetic Materials***.

Cosmological Interpretation - *of the* - **Tanmātras** *&* **Mahābhūtas:**

This Thesis has also postulated Cosmological Interpretations to the Tanmatras and Mahabhutas of - Sankhya. While the Five Tanmatras have been interpreted in terms of the various - Energies, Forces, Fields or Bonds; The Five Mahabhutas have been interpreted in terms of the - End Results or the Final Manifestation of the Five Tanmatras; which are the Spatial (*three-dimensional space related*) Physical Entities; which other than 'Space' itself, chiefly includes All the - Matter, or Material, or End-Substances - from which the entire Cosmos if made-up from.

Celestial Bodies *&* **Celestial Beings** - *in other ancient* - **Civilisations :**

While the Notion of - "***'Celestial Bodies' -being accepted as - 'Celestial Living Beings'; into-which Humans too may Reincarnate - in 'After-life'***" - evidently originated in the Vedas; However, the Influence of this fascinating "**Celestial Ascension**" ***Concept***, and the "**Celestial Ascension Ritual**" - appears to have spread far and wide - amongst some of the world's most primitive Cultures, and ancient Civilisations. This Concept and its Rituals - may have initially been inherited or adopted, by those ancient Civilisations and Cultures; and subsequently localised, and further evolved - to take their own unique forms.

Zoroastrianism (*Mazdayasna or Avestan*) is well-known to be closely associated with the Vedas; and their ***Fire-Ritual*** related to '***Atar***', is known to closely resemble the - ***Vaidic Shrauta Fire Rituals*** - whichwere basically - "**Celestial Ascension Rituals**". Zoroastrianism is also largely considered as a - **Dharmic Religion**, as it has close association with the Vaidic - Beliefs, Deities, and Rituals; which include the "**Celestial Ascension**".

However, going much beyond; there is also overwhelming evidence to prove that the distant ancient **Egyptians** too believed in the concept of - "**Celestial Ascension**"; and *in most probability*, had inherited or adopted, and further uniquely evolved their own forms of - "**Celestial Ascension Rituals**"; which inherently involved the Pyramids,and *most possibly*, its predecessor 'Mastabas' too. It is postulated that the '**Pyramids**', *and also possibly*the '**Mastabas**' too - were fundamentally envisioned as the - **Ritualistically symbolic**"**Launch-Pads**" for "**Celestial Ascension**".

The **Mesopotamian** and **Elamite - Civilisations**, which include the - **Sumerians**, **Akkadians**, **Assyrians**, **Elamites**, **Eblaites** and **Babylonians**; extensively indulged in **Rituals**, and in building grand **Ritualistic Altars** - that were quite-similar to the Egyptian's "**Celestial Ascension Rituals**"; and like the Egyptians, they too built elaborate **Mastabas**, which later evolved into colossal - **Ziggurats**, who's purpose in largely still not well-understood. Correspondingly, it has been postulated here that - like the Egyptians, some of the Mesopotamian and Elamite - Civilisations too *most possibly* may have believed in the - Concept of "**Celestial Ascension**"; and performed - "**Celestial Ascension Rituals**", with their **Ziggurats** and **Mastabas** acting as the - **Ritualistically symbolic** "**Launch-Pads**" for "**Celestial Ascension**".

The **Meso-American - Civilisations**, thatencompass the - **Olmecs**,**Teotihuacans**,**Mayans**,**Toltecs**,**Aztecs**,**Incas**,**Classic-Veracruzans**, **Zapotecs**, **Lima**, **Moche**, etc.: also conducted elaborate and majestic **Rituals**, anderected monumental **Ritualistic Altars**; that were quite-similar to the Egyptian's "***Celestial Ascension Rituals***". And quite analogous to the Egyptians, they built gigantic - **Step-Pyramids**; **Step-Platforms**; and **Adobitos**, who's objective in also,mostly not yet well-understood.Therefore, it is *fairly possible*that - like the Egyptians, many of the Meso-American - Civilisations too, *most possibly* may have believed in the - Concept of "***Celestial Ascension***"; and performed some form of - "**Celestial Ascension Rituals**", with their **Step-Pyramids**; **Step-**

Platforms; and **Adobitos**acting as the - **Ritualistically symbolic** "**Launch-Pads**" for "**Celestial Ascension**".

This is a field that deserves further intense study, in the context of the hypothesis presented by this Thesis.

Vedas are Apaurusheya, *i.e.* **- Universal Knowledge :**

Now, animportant question that needs to be answered is - How did our ancient and *allegedly* 'primitive' ancestors have such advanced comprehension regarding the Cosmos, Celestial Bodies, and other Astronomical phenomenon; When they apparently did not possess any of the elaborate Hi-tech-Technology and Equipment (*like* Telescopes, Rockets, Labs, etc.) necessary - to observe deep into the Stars, Nebulas, Galaxies, and the Universe?

The answer to this is twofold: -

1. Many ancient Civilisations would have had their own form of - Technologies, Apparatus, and Equipment; which do find ample amount of references in ancient Texts, like the **Pushpaka Vimana** in ***Ramayana***. However, physical evidence of these are presently not forthcoming, as even assuming they were true, they would not have survived the passage of time, since they evidently were not made up of - Stone or Bricks; which can withstand the onslaught of Nature and Time; and consequently, be unearthed by archaeologists. However, this does Not inevitably establish that the ancients were devoid of any advanced technologies. The almost 2,500 year-old ***Rust-Resistant*** **-IronPillar *of* Delhi**, and the around 2,000 year-old ***Astronomical-device*** **-Antikythera Mechanism*of* Greeks**, are merely some of the technological examples, which stand testimony to the some of the great technologies existing in some ancient Civilisations!

These examples goes on to show that - how easily Modern Man - readily and arrogantly, underestimates and undermines his own - Ancestors, and their Level of Knowledge; and gladly brands them - Naīve, Barbaric and Primitive; Discounting the very fact that - All his existing - physical, evolutionary, mental, skill, artistic, scientific, and technologicaladvancement û is primarily due to their phenomenal entrepreneurship. Such a conceptionof - 'Naīve, Barbaric and Primitive - Ancestors' is predominantly a new and later western concept.

2. Another important explanation would be that, according to the Vaidics: As the **Cosmic Mind** in the **Conceiver** and **Creator** of - the whole initial and universal **Cosmos**; Therefore, the Knowledge and

Memory of - All forms of Manifestations and Creations, would be embedded within the **Cosmic Mind**. Further;As All the **Individual Minds** of All Living Beings - including that of Humans, are basically derived from the **Cosmic Mind**; Therefore, Intelligent species like Humans - through the process of ***Mind management***, ***Meditation, Yoga*** and ***SamprajnataSamadhi***, can focus and guide their **Individual Minds** to ***partly*****synchronise** and **merge** with the **Cosmic Mind**, and thereupon, tap into the vast amount of Cosmic Knowledge and Memory existing there. This may be the secret behind the notion of: -

साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवुः॥ -नि. 1.20

Correspondingly, even such Knowledge that has not been directly and independently perceived [*externally sensed (received) or internally conceived*] by an Individual Seekers or Researchers - can still be 'assessed' or 'downloaded' by one's **Individual Mind**, if his **Individual Mind** is able to 'tap' into the **Cosmic Mind**, who is the **Cosmic - Conceiver** and **Creator**, by means of Yoga, Meditation, and Samadhi. This is like an Individual Computer, tapping into a 'Central Server', 'Cloud' or 'Internet'; and assessing such 'Data', that was not - directly Fed into it - by its independent user, or by its own means.

Such 'Downloaded' Knowledge in Humans, which is essentially the result of - tapping into the **Cosmic-Mind - Brahma**: can be termed as - **Apaurusheya Knowledge**; i.e. **Non-Individual Knowledge**, or **Universal Knowledge** or **Cosmic Knowledge**. Such 'Cognition' is ***primarily***- '**Witnessed**' during the state of*deep* - ***Yoga-Sushupti*** or ***Samprajnāta Samādhi*** - ***Avasthā*** of the Mind : *i.e.* **Deep Mediation** or **Conscious Sleep *like* State**.

On the contrary, ***Paurusheya Knowledge***, or **Individual Knowledge** - is such 'Cognition' that isthe result of being ***primarily*** -

- **Sensed** [*by the - External- Sensual Organs, or External- Psyche*]; *or -*
- **Perceived** or **Conceived** [*by the - Internal- Mind, or Internal- Psyche*]:
- directly by the ***Individual Mind*** of an***Individual Living-Being***; which occurs during the state of - ***Jāgrita Avasthā*** or ***Bahir-Prajna*** - state of the Mind: *i.e.*state of **Awareness** or **Alertness**.

Going by the unparalleled profoundness of the phenomenal Knowledge found in the - Vedas, as we have seen in this Thesis; it may be considered evident that - the knowledge of the **Vedas** was largely - **Apaurusheya Knowledge**; i.e. **Non-Individual Knowledge**, or **Universal Knowledge**. Hence, it is famously accepted, and accordingly quoted by Acharya Sayana :

अपौरुषेयं वाक्यं वेदः

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly Refereed & Peer-Reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, uttarakhand only -***Editor in Chief***

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar - 249 404 Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

***Note :** For subscription and related enquiries feel free to contect Business Manager & editor*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC Care Listed Half Yearly Journal)
July-December 2019

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed/Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate from Brahma to Jaimini School of Vedic thoughts for removing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषियों की वैदिक विचारधारा को वेद विषयक भ्रान्तियों को दूर करने के लिए गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।